विदुरनीति

यक्ष-धर्म प्रश्नोत्तरी सहित

खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन,
बम्बई

विदुरनीति

पं० काशीरामकृत हिन्दी टीका

एवं

यक्ष-धर्मप्रश्नोत्तरी

पं० नन्दलालकृत हिन्दीटीकासहित

खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन,
बम्बई

प्रस्तावना

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीभगवद्वाक्य है कि "नीतिरस्मि जिगीपताम्" संसार में
ीत चाहनेवालों के लिये मैं 'नीति' हूं। इसका स्पष्टार्थ हुआ कि, नीति जाननेवाले
ी सदा जय होती है, इसलिये संसार में प्रत्येक मनुष्य को नीतिशास्त्र का अभ्यास
र उसके अनुसार चलना चाहिये। जिस महाभारत रत्नाकर से श्रीभगवद्गीता,
ष्णुसहस्रनाम, गजेन्द्रमोक्ष आदि अनेक रत्न निकले हैं उसी से यह 'बिदुरनीति'
ी निकली है। राजा धृतराष्ट्र धर्म से च्युत न हों, नीति के अनुसार चलने से इस
ोक में सुख सम्पत्ति आदि अनेक लाभ तथा परलोक में अक्षय सुख उनको मिले,
सलिये महात्मा विदुर ने उनको उपदेश दिया था। वह उपदेश पठित, अपठित,
रुण, बाल, बृद्ध, स्त्री, पुरुष, शासक, प्रजा, धनी, निर्धन, शिक्षक, विद्यार्थी,
ापारी, सेवाभावी, पवित्र एवं सुखी जीवन चाहनेवाले प्रत्येक मानव के लिये
पयोगी है। मूल ग्रन्थ संस्कृत में होने से हिन्दी रसिक इसके लाभ से वञ्चित रह रहे
, यह विचार कर इस ग्रन्थ की हिन्दी टीका करवाकर छपवाया है। इसके साथ ही
क्ष और धर्मराज युधिष्ठिर के प्रश्नोत्तर भी हिन्दी टीका सहित लगा दिये गये हैं।
ससे इसकी उपयोगिता और बढ़ गयी है। आशा है कि इस पुस्तक को लोग अपने
ालकों को कण्ठस्थ करा देंगे जिससे सदा नीति के श्लोक उपस्थित रहने से उनको
पना कर्तव्य आयुष्यभर याद रहे और उसके अनुसार चलकर वह प्रत्येक कार्य में
ाभ उठावें।

कृपाकांक्षी

खेमराज श्रीकृष्णदास

विदुरनीतिः

अतः परं प्रजागरपर्व

वैशंपायन उवाच

द्वाःस्थं प्राह महाप्राज्ञो धृतराष्ट्रो महीपतिः ।
विदुरं द्रष्टुमिच्छामितमिहानय मा चिरम् ॥१॥

भजे सत्यं गुणातीतमनन्तं सदसदात्मकम् ।
यद्विज्ञापितो द्रुहिणो निगममाविरकार्षीत् ॥
अहो विनिर्ममे मन्दो निगममाविरकार्षीत् ॥
अहो विनिर्मये मन्दो भाषां विदुरनीतिके ।
कृपा श्रीवासुदेवस्य भक्तैः किं किं न साधयेत् ॥

वैशम्पायनजी महाराज राजा जनमेजय से कहते हैं कि हे महाराज! आज्ञा प्राप्त कर संजय के चले जाने पर अतिबुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रजी द्वारपाल से बोले कि मैं विदुरजी से इसी समय मिलना चाहता हूँ, उनको यहां शीघ्र ही लाइये॥१॥

प्रहितो धृतराष्ट्रेण दूतः क्षत्तारमब्रवीत् ।
ईश्वरस्त्वां महाराजो महाप्राज्ञ दिदृक्षति ॥२॥
एवमुक्तस्तु विदुरः प्राप्य राजनिवेशनम् ।
अब्रवीद्धृतराष्ट्राय द्वाःस्थं मां प्रति वेदय ॥३॥

द्वाःस्थ उवाच

विदुरोऽयमनुप्राप्तो राजेन्द्र तव शासनात् ।
द्रष्टुमिच्छति ते पादौ किं करोतु प्रशाधि माम् ॥४॥

धृतराष्ट्र उवाच

प्रवेशय महाप्रज्ञं विदुरं दीर्घदर्शिनम् ।
अहं हि विदुरस्यास्य नाकल्पो जातु दर्शने ॥५॥

धृतराष्ट्रजी का भेजा हुआ वह दूत जाकर विदुरजी से बोला—हे महाप्राज्ञ! राजा धृतराष्ट्रजी महाराज इस समय आपसे मिलना चाहते हैं॥२॥ दूत की बात सुनकर विदुरजी राजमहल में जाकर द्वारपाल से बोले कि—हे द्वारपाल! मेरे आने की सूचना धृतराष्ट्रजी को दे दो॥३॥ द्वारपाल ने जाकर धृतराष्ट्र से कहा—हे राजेन्द्र! आपकी आज्ञा से विदुरजी आये हैं और आपके चरणों का दर्शन करना चाहते हैं, आज्ञा दीजिये उन्हें क्या कहा जाय॥४॥ तब धृतराष्ट्रजी बोले—हे द्वारपाल! दीर्घदर्शी बड़े बुद्धिमान् विदुरजी को यहां ले आइये। इन विदुरजी से मिलने में मुझे कभी भी अड़चन नहीं है॥५॥

द्वास्थः उवाच

प्रविशान्तःपुरं क्षत्तर्महाराजस्य धीमतः ।
नहि ते दर्शनेऽकल्यो जातु राजाऽब्रवीद्धि माम् ॥६॥

वैशंपायन उवाच

ततः प्रविश्य विदुरो धृतराष्ट्रनिवेशनम् ।
अब्रवीत्प्रांजलिर्वाक्यं चिंतयानं नराधिपम् ॥७॥
विदुरोऽहं महाप्राज्ञ संप्राप्तस्तव शासनात् ।
यदि किंचन कर्तव्यमयमस्मि प्रशाधि माम् ॥८॥

धृतराष्ट्र की आज्ञा पाकर विदुरजी से द्वारपाल बोला—हे वीर श्रेष्ठबुद्धिवाले! महाराज धृतराष्ट्र के अन्तःपुर में प्रवेश कीजिये, आपसे मिलने में महाराज को कभी भी अड़चन नहीं है, मुझे राजा ने यह कहा है॥६॥ वैशंपायनजी बोले—तदनन्तर धृतराष्ट्र के भवन से प्रवेश कर हाथ जोड़े हुए विदुरजी चिंतन करते हुए नृपति धृतराष्ट्र से बोले॥७॥ हे महाप्राज्ञ! मैं विदुर हूँ, आपकी आज्ञा से यहाँ उपस्थित हुआ हूं। मेरे करने योग्य जो कार्य हो, आज्ञा दीजिये॥८॥

धृतराष्ट्र उवाच

संजयो विदुर प्राज्ञो गर्हयित्वा च मां गतः ।
अजातशत्रोः श्वो वाक्यं सभामध्ये स वक्ष्यति ॥९॥
तस्याद्य कुरुवीरस्य न विज्ञातं वचो मया ।
तन्मे दहति गात्राणि तदकार्षीत्प्रजागरम् ॥१०॥

जाग्रतो दह्यमानस्य श्रेयो यदनुपश्यसि ।
तद्ब्रूहि त्वं हि नस्तात धर्मार्थकुशलो ह्यसि ॥११॥
यतः प्राप्तः संजयः पाण्डवेभ्यो न मे यथावन्मनसः प्रशांतिः ।
सर्वेन्द्रियाण्यप्रकृतिं गतानि किं वक्ष्यतीत्येव मेऽद्य प्रचिंता ॥१२॥

उस समय धृतराष्ट्रजी विदुरजी से बोले—हे विदुरजी! बुद्धिमान् संजय यहां आया और हमारी निन्दा करके इस समय यहां से गया है। कल अजातशत्रु युधिष्ठिर के वचन वह सभा के बीच में कहेगा॥९॥ इस समय उस कुरुवीर युधिष्ठिर की बात मैं नहीं जान सका हूँ, यह बात मेरे अंगों को जला रही है और यही मेरे अब तक जागते रहने का कारण है॥१०॥ हे तात! जागनेवाले मुझ जलते हुए का जो कल्याण तुम देखते हो वह मुझसे कहो क्योंकि तुम धर्म और अर्थ के ज्ञान में निपुण हो॥११॥ पांडवों से मिलकर जब से संजय यहां आया है, हमारे मन को यथोचित शान्ति नहीं मिल रही है, मेरी समस्त इन्द्रियां विकल हो रही हैं कि न जाने संजय क्या कहेगा,यही मुझको इस समय अतिभारी चिन्ता है॥१२॥

विदुर उवाच

अभियुक्तं बलवता दुर्बलं हीनसाधनम् ।
हृतस्वं कामिनं चोरमाविशन्ति प्रजागराः ॥१३॥
कच्चिदेतैर्महादोषैर्न स्पृष्टोऽसि नराधिप ।
कच्चिच्च परवित्तेषु गृध्यन्न परितप्यसे ॥१४॥

तब विदुरजी राजा धृतराष्ट्र से बोले कि, जिसका बलवान् के साथ विरोध हो गया हो उस साधनहीन मनुष्य को, जिसका धन किसी ने छीन लिया हो और जो कामी हो और चोरी करता हो इनको अनिद्रा रोग हो जाता है॥१३॥ हे नराधिप! इन महादोषों ने तो कहीं आपको स्पर्श नहीं कर लिया है? अथवा पराये धन के लोभ से तो आप कष्ट नहीं पा रहे हैं॥१४॥

धृतराष्ट्र उवाच

श्रोतुमिच्छामि ते धर्म्यं परं नैःश्रेयसं वचः ।
अस्मिन् राजर्षिवंशे हि त्वमेकः प्राज्ञसंमतः ॥१५॥

विदुर उवाच

"राजा लक्षणसंपन्नस्त्रैलोक्यस्याधिपो भवेत् ।।
प्रेष्यस्ते प्रेषितश्चैव धृतराष्ट्र युधिष्ठिरः ।।१६।।
विपरीततरश्च त्वं भागधेये न संमतः ।
अर्चिषां प्रक्षयाच्चैव धर्मात्मा धर्मकोविदः ।।१७।।
आनृशंस्यादनुक्रोशाद्धर्मात्सत्यात्पराक्रमात् ।
गुरुत्वात्त्वयि संप्रेक्ष्य बहून् क्लेशांस्तितिक्षते ।।१८।।

तब धृतराष्ट्रजी महाराज विदुरजी से बोले–हे विदुरजी! तुम्हारे कल्याणकारक उत्तमधर्मयुक्त वचनों को मैं सुनना चाहता हूं। कारण कि, तुम अकेले ही इस राजर्षिवंश में पंडितों के भी मान्य हो।।१५।। "उस समय विदुरजी महाराज धृतराष्ट्र से कहने लगे–हे राजन् धृतराष्ट्र! श्रेष्ठ लक्षणयुक्त क्षत्रिय तीनों लोकों का स्वामी होता है, ऐसे प्रार्थना करने योग्य युधिष्ठिर को आपने वन में भेज दिया।।१६।। आप धर्मात्मा तथा धर्म के जाननेवाले भी हो, तथापि नेत्रदृष्टि के दूर होने से उनको पहिचान न सके और उन्हें राज्य का भाग देने में सहमत नहीं हुए।।१७।। युधिष्ठिर में अक्रूरता, दया, धर्म, सत्य तथा पराक्रम है। आप में पूज्य बुद्धि रखते हैं, इन्हीं गुणों के कारण वे बहुत से क्लेशों को सह रहे हैं।।१८।।

दुर्योधने सौबले च कर्णे दुःशासने तथा ।
एतेष्वैश्वर्यमाधाय कथं त्वं भूतिमिच्छसि ।।१९।।
आत्मज्ञानं समारंभस्तितिक्षा धर्मनित्यता ।
यमर्थान्नापकर्षंति स वै पण्डित उच्यते ।।२०।।
विषैवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते ।
अनास्तिकः श्रद्दधान एतत्पण्डितलक्षणम् ।।२१।।
क्रोधो हर्षश्च दर्पश्च ह्रीः स्तंभो मान्यमानिता ।
यमर्थान्नापकर्षंति स वै पंडित उच्यते ।।२२।।

दुर्योधन, सौबल, कर्ण और दुःशासन जैसे अयोग्य व्यक्तियों पर राज्य का भार रखकर आप कैसे ऐश्वर्य वृद्धि चाहते है।।१९।। अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान, उद्यम, दुख सहन करने की शक्ति और धर्म में

स्थिरता—ये गुण जिस पुरुष को पुरुषार्थ से भ्रष्ट नहीं करते, वही पण्डित कहलाता है॥२०॥ जो श्रेष्ठ कर्मों को सेवन करता है और बुरे कर्मों से दूर रहता है, साथ ही जो आस्तिक और श्रद्धालु है, ये सद्गुण पंडित के लक्षण हैं ॥२१॥ क्रोध, हर्ष, गर्व, लज्जा, उद्दण्डता तथा अपने को पूज्य समझना—ये भाव जिसको पुरुषार्थ से भ्रष्ट नहीं करते, वह पण्डित कहलाता है ॥२२॥

यस्य कृत्यं न जानंति मंत्रं वा मंत्रितं परे ।
कृतमेवास्य जानंति स वै पंडित उच्यते ॥२३॥
यस्य कृत्यं न विघ्नन्ति शीतमुष्णं भयं रतिः ।
समृद्धिरसमृद्धिर्वा स वै पंडित उच्यते ॥२४॥
यस्य संसारिणी प्रज्ञा धर्मार्थावनुवर्तते ।
कामादर्थं वृणीते यः स वै पंडित उच्यते ॥२५॥
यथाशक्ति चिकीर्षंति यथाशक्ति च कुर्वते ।
न किंचिदवमन्यंते नराः पंडितबुद्धयः ॥२६॥

जिसके नहीं किये हुए कार्य को और सलाह किये हुए मंत्र को दूसरे जन नहीं जानते हैं किन्तु जिसके किये हुए कार्य को ही जानते हैं वह निश्चय ही पंडित कहलाता है ॥२३॥ जिसके कार्य को शीत, उष्ण, भय, मैथुन समृद्धि और असमृद्धि अर्थात् दरिद्रावस्था यह विघ्न नहीं करते हैं वह निश्चय ही पंडित कहलाता है ॥२४॥ जिसकी बुद्धि संसारवर्तिनी हुई भी धर्म और अर्थ को साधन करती है और जो काम से अर्थ को श्रेष्ठ मानता है वह निश्चय ही पंडित कहलाता है ॥२५॥ जिनकी कि पंडितों के समान बुद्धि है वह नर शक्ति के अनुसार ही कार्य करने की इच्छा करते है और शक्ति के अनुसार ही कार्य को करते है और न किसी का किंचिन्मात्र अवमान करते हैं ॥२६॥

क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति विज्ञाय चार्थं भजते न कामात् ।
नासंपृष्टो व्युपयुंक्ते परार्थे तत्प्रज्ञानं प्रथमं पंडितस्य ॥२७॥
नाप्राप्यमभिवाञ्छंति नष्टं नेच्छंति शोचितुम् ।
आपत्सु च न मुह्यंति नराः पंडितबुद्धयः ॥२८॥

निश्चित्यः यः प्रक्रमते नांतर्वसति कर्मणः ।
अवंध्यकालो वश्यात्मा स वै पंडित उच्यते ॥२९॥

जो कि ज्ञान की दृढ़ता के लिये किसी वाक्य को बहुत काल तक सुनता है फिर सुनकर शीघ्र ही जान लेता है फिर जान करके पुरुषार्थ में प्रवृत होता है, न कि इच्छा से और न ही बिना पूछे जो दूसरे के बारे में व्यर्थ कोई बात कहता है, यह स्वभाव पंडित की मुख्य पहचान है ॥२७॥ जिनकी पंडितों के समान बुद्धि है वह नर अप्राप्य पदार्थ की अभिलाषा नहीं करते हैं, नष्ट हुई वस्तु का शोच नहीं करते हैं, और विपत्ति आने पर घबराते नहीं हैं ॥२८॥ जो कि निश्चय करके कार्य को करता है, और बिना समाप्त हुए कार्य नहीं छोड़ता है और जिसका समय निष्फल नहीं जाता है और जो जितेन्द्रिय रहता है वह निश्चय ही पंडित कहलाता है ॥२९॥

आर्यकर्मणि रज्यंते भूतिकर्माणि कुर्वते ।
हितं च नाभ्यसूयंति पंडिता भरतर्षभ ॥३०॥
न हृष्यत्यात्मसंमाने नावमाने न तप्यते ।
गाङ्गो ह्रद इवाक्षोभ्यो यः स पंडित उच्यते ॥३१॥
तत्वज्ञः सर्वभूतानां योगज्ञः सर्वकर्मणाम् ।
उपायज्ञो मनुष्याणां नरः पंडित उच्यते ॥३२॥
प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान् ।
आशुग्रंथस्य वक्ता च यः स पंडित उच्यते ॥३३॥

हे भरतर्षभ! पंडितजन शिष्टजनों के योग्य कर्म में अनुरक्त रहते हैं ऐश्वर्य के कर्म करते हैं और हित करने वाले की निन्दा नहीं करते हैं ॥३०॥ जो कि अपना आदर होने पर हर्षित नहीं होता है और अनादर होने पर दुखी नहीं होता है किन्तु गङ्गाजी के कुण्ड के समान सन्मान तथा अवमान का कारण होने पर भी किसी प्रकार विचलित नहीं होता है वह पंडित कहलाता है ॥३१॥ सर्व प्राणियों के तत्व को जानने वाला और सर्व कर्मों के रचना प्रकार को जानने वाला और मनुष्यों में सबसे बढ़कर उपाय को जानने वाला नर पंडित कहलाता है ॥३२॥ जिसकी

वाणी कहीं रुकती नहीं जो चित्र विचित्र कथाओंके कहने वाला हो और जो तर्कवाला और प्रतिभाशाली हो, जो शीघ्र ही शास्त्र के अर्थ को कहने वाला हो वह पंडित कहलाता है ॥३३॥

श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा ।
असंभिन्नार्यमर्यादः पंडिताख्यां लभेत सः ॥३४॥
अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः ।
अर्थांश्चाकर्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः ॥३५॥
स्वमर्थं यः परित्यज्य परार्थमनुतिष्ठति ।
मिथ्याचरति मित्रार्थे यश्च मूढः स उच्यते ॥३६॥

जिसका शास्त्र बुद्धि के अनुकूल हो और जिसकी बुद्धि शास्त्र के अनुसार हो और जिसने शिष्टजनों की मर्यादा नहीं दूर की हो वह पंडित नाम को प्राप्त होता है ॥३४॥ जो शास्त्रहीन होकर सर्व कार्यों के करने में गर्विष्ठ है, दरिद्र होकर उदार चित्तवाला है और बिना कर्म किये अर्थों के प्राप्त करने की इच्छा करता है पंडित लोग उसे मूर्ख कहते हैं ॥३५॥ जो अपना कर्तव्य छोड़कर दूसरे के कर्तव्य का पालन करता है, तथा मित्र के साथ मिथ्या आचरण करता है, वह मूर्ख कहलाता है॥३६॥

अकामान्कामयति यः कामयानान्परित्यजेत् ।
बलवन्तं च यो द्वेष्टि तमाहुर्मूढचेतसम् ॥३७॥
अमित्रं कुरुते मित्रं मित्रं द्वेष्टि हिनस्ति च ।
कर्म चारभते दुष्टं तमाहुर्मूढचेतसम् ॥३८॥
संसारयति कृत्यानि सर्वत्र विचिकित्सते ।
चिरं करोति क्षिप्रार्थे स मूढो भरतर्षभ ॥३९॥
श्राद्धं पितृभ्यो न ददाति दैवतानि न चार्चति ।
सुहृन्मित्रं न लभते तमाहुर्मूढचेतसम् ॥४०॥

ो नहीं चाहने वालों को चाहता है और अपने चाहने वालों को त्याग ता है और बलवान् से द्वेष करता है उसको पंडितजन मूढ़चेता कहते हैं ३७॥ जो अमित्र को मित्र करता है और मित्र से वैर करता है अथवा मत्र की हिंसा करता है और दुष्टकर्म को आरम्भ करता है उसको

पंडित मूढ़चेता कहते हैं ।।३८।। हे भरतर्षभ! जो अपने कर्मों को व्यर्थ ही फैलाता है, सब जगह संशय करता है और शीघ्र होने वाले कार्य में विलम्ब करता है वह मूढ़ हैं ।।३९।। जो पितरों का श्राद्ध और देवताओं का पूजन नहीं करता है और सदैव सहायता करने वाले मित्र को नहीं प्राप्त होता है उसको पंडित मूढ़चेता कहते हैं ।।४०।।

अनाहूतः प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते ।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः ।।४१।।
परं क्षिपति दोषेण वर्तमानः स्वयं तथा ।
यश्च क्रुध्यत्यनीशानः स च मूढतमो नरः ।।४२।।
आत्मनो बलमज्ञाय धर्मार्थपरिवर्जितम् ।
अलभ्यमिच्छन्नैष्कर्म्यान्मूढबुद्धिरिहोच्यते ।।४३।।
अशिष्यं शास्ति यो राजन्यश्च शून्यमुपासते ।
कदर्यं भजते यश्च तमाहुर्मूढचेतसम् ।।४४।।

जो कि बिना ही बुलाया सभा में प्रवेश करता है और बिना ही पूछे हुआ बहुभाषण करता है और अविश्वासी में विश्वास करता है वह अधम नर मूढ़चेता है ।।४१।। जो स्वयं दोष से वर्त्तमान होकर भी दूसरे को दोषयुक्त करता है और जो आप असमर्थ होकर समर्थ के प्रति क्रोध करता है वह नर अतिमूढ़ है ।।४२।। अपने बल को न जानकर धर्म अथवा अर्थ द्वारा वर्जित अलभ्य वस्तु को बिना कर्म किये प्राप्त करना चाहता है उसे इस लोक में पंडितों ने मूढ़ बुद्धि कहा है ।।४३।। हे राजन्! जो अनधिकारी को उपदेश देता है और शून्यं की उपासना करता है तथा जो कृपण का आश्रय लेता है, उसे मूढ़ चित्तवाला कहते हैं।।४४।।

अर्थं महान्तमासाद्य विद्यामैश्वर्यमेव वा ।
विचरत्यसमुन्नद्धो यः स पंडित उच्यते ।।४५।।
एकः संपन्नमश्नाति वस्ते वासश्च शोभनम् ।
योऽसंविभज्य भृत्येभ्यः कोनृशंसतरस्ततः ।।४६।।
एकः पापानि कुरुते फलं भुंक्ते महाजनः ।
भोक्तारो विप्रमुच्यंते कर्ता दोषेण लिप्यते ।।४७।।

एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुर्मुक्तो धनुष्मता ।
बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टा हन्याद्राष्ट्रं सराजकम् ॥४८॥

जो अत्यन्त धन व विद्या ऐश्वर्य को प्राप्तकर मदमत्त न होकर विचरता है वह पंडित कहलाता है ॥४५॥ जो भृत्य, पुत्र, कलत्रादिकों के लिये न वांटकर अकेला ही स्वादु पदार्थ को भोजन करता है और अकेला ही सुन्दर वस्त्रों को पहिनता है उससे अतिक्रूर कौन है अर्थात् कोई नहीं ॥४६॥ हे राजन्! एक ही पाप करता है और वहुत जन उन पापों के फलों को भोगते हैं। परन्तु भोगनेवाले पापों के दोषों से छूट जाते हैं और पाप करने वाला पापों के दोष से लिप्त हो जाता है ॥४७॥ धनुषधारी का छोड़ा हुआ वाण अकेले को मारे अथवा न मारे परन्तु बुद्धिमान् द्वारा छोड़ी हुई अर्थात् अनिष्ट के लिये विचारी हुई बुद्धि राजा सहित देश का नाश कर देती है ॥४८॥

एकया द्वे विनिश्चित्य त्रींश्चतुर्भिर्वशे कुरु ।
पंच जित्वा विदित्वा षट् सप्त हित्वा सुखी भव ॥४९॥
एकं विषरसो हन्ति शस्त्रेणैकश्च वध्यते ।
सराष्ट्रं सप्रजं हन्ति राजानं मंत्रविप्लवः ॥५०॥
एकः स्वादु न भुंजीत एकश्चार्थान्न चिंतयेत् ।
एको न गच्छेदध्वानं नैकः सुप्तेषु जागृयात् ॥५१॥

हे राजन्! एक बुद्धि से कार्य और अकार्य इन दोनों को निश्चय कर साम, दाम, दण्ड, भेद इन चारों उपायों द्वारा मित्र, उदासीन, शत्रु इन तीनों को वश में कीजये और पांच इन्द्रियों को जीतकर और अतिस्त्री सेवन, द्यूतक्रीड़ा, अहेर खेलना, मदिरापान, खोटा वचन कहना, कठोर दंड़, तथा वृथा धन दूषित करना इन सातों को त्यागकर संधि, विग्रह, द्वैधीभाव, यान, आसन और आश्रय इन छः गुणों को जानकर सुखी हो जाइये ॥४९॥ जो पान करता है उसी को विष रस मार सकता है और शस्त्र से अकेला ही मारा जाता है परन्तु मन्त्र का फूटना देश, प्रजा सहित राजा को मार देता है ॥५०॥ अकेला ही स्वादु पदार्थ का भोजन न करे, अकेला बहुत अर्थों को न विचारे, अकेला मार्ग को न चले और बहुत से सोते हुओं में अकेला न जागे ॥५१॥

एकमेवाद्वितीयं तद्यद्राजन्नावबुध्यसे ।
सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव ॥५२॥
एकः क्षमावतां दोषो द्वितीयो नोपपद्यते ।
यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः ॥५३॥
सोऽस्य दोषो न मंतव्यः क्षमा हि परमं बलम् ।
क्षमागुणो ह्यशक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा ॥५४॥
क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमया किं न साध्यते ।
शांतिखड्गः करे यस्य किं करिष्यति दुर्जनः॥५५॥

जो कि एक अद्वितीय सत्य है उसको हे राजन्! तुम नहीं जानते हो जो स्वर्ग के चढ़ने की ऐसी सीढ़ी है जैसे कि समुद्र के तैरने की नाव ॥५२॥ क्षमा वालों के बारे में एक ही दोष सिद्ध होता है न कि दूसरा जो कि इस क्षमायुक्त पुरुष को जन असमर्थ मानते हैं ॥५३॥ वह इस क्षमायुक्त का दोष नहीं मानना चाहिये क्योंकि, क्षमा परम वल है दूसरा कारण यह है कि, असमर्थों का क्षमा गुण है समर्थों का भूषण है ॥५४॥ संसार में एक क्षमा ही वशीकरण है क्षमा से क्या नहीं सिद्ध होता है? किन्तु सब ही सिद्ध हो जाता है। जिसके हाथ में शांतिरूपी तलवार विद्यमान है उसका दुर्जन क्या करेगा? अर्थात् दुर्जन उसका कुछ भी नुकसान नहीं कर सकेगा ॥५५॥

अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ।
अक्षमावान्परं दोषैरात्मानं चैव योजयेत् ॥५६॥
एको धर्मः परं श्रेयः क्षमैका शांतिरुत्तमा ।
विद्यैका परमा तृप्तिरहिंसैका सुखावहा ॥५७॥
द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम्॥५८॥
द्वे कर्मणी नरः कुर्वन्नस्मिँल्लोके विरोचते ।
अब्रुवन् परुषं किंचिदसतोऽनर्चयंस्तथा ॥५९॥

जिस प्रकार तृणरहित स्थान में गिरी हुई आग स्वयं ही बुझ जाती उसी प्रकार क्षमावाले के सामने आया हुआ दुर्जन शान्त हो जाता और जो क्षमायुक्त नहीं है वह अपने उत्तम आत्मा को भी दोषों से यु

कर देता है ॥५६॥ एक धर्म ही परम कल्याणरूप है और एक क्षमा ही उत्तम शांति है और एक विद्या ही परम तृप्ति है और एक अहिंसा ही सुख देने वाली है ॥५७॥ जिस प्रकार बिल में शयन करने वाले जन्तु को सर्प ग्रस लेता है उसी प्रकार शत्रुओं के साथ विरोध नहीं करने वाले राजा और दूसरे प्रदेश में नहीं रहने वाले ब्राह्मण, इन दोनों को यह पृथ्वी खा जाती है ॥५८॥ जरा भी कठोर न बोलना और दुष्ट पुरुषों का आदर न करना, इन दो कर्मों को करने वाला मनुष्य इस लोक में विशेष शोभा पाता है ॥५९॥

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र परप्रत्ययकारिणौ ।
स्त्रियः कामितकामिन्यो लोकः पूजितपूजकः ॥६०॥
द्वाविमौ कण्टकौ तीक्ष्णौ शरीरपरिशोषिणौ ।
यश्चाधनः कामयते यश्च कुप्यत्यनीश्वरः ॥६१॥
द्वावेव न विराजेते विपरीतेन कर्मणा ।
गृहस्थश्च निरारंभः कार्यवांश्चैव भिक्षुकः ॥६२॥
द्वाविमौ पुरुषौ राजन् स्वर्गस्योपरि तिष्ठतः ।
प्रभुश्च क्षमया युक्तो दरिद्रश्च प्रदानवान् ॥६३॥

दूसरी स्त्री द्वारा चाहे गये पुरुष की कामना करने वाली स्त्रियां तथा दूसरों के द्वारा पूजित मनुष्य का आदर करने वाले पुरुष- ये दो प्रकार के लोग दूसरों पर विश्वास करके चलने वाले होते हैं ॥६०॥ निर्धन होकर भी बहुमूल्य वस्तु की इच्छा रखने वाला और असमर्थ होकर भी क्रोध करने वाला, ये दोनों ही अपने शरीर को सुखा देने वाले कांटों के समान हैं ॥६१॥ दो पुरुष विपरीत कर्म करके शोभित नहीं होते हैं? एक तो विना उद्यमवाला गृहस्थ और दूसरा कार्य करने वाला संन्यासी ॥६२॥ हे राजन्! यह दो पुरुष स्वर्ग के ऊपर विराजमान होते हैं। एक तो क्षमायुक्त सामर्थ्यवान् और दूसरा अतिदानी दरिद्र पुरुष ॥६३॥

न्यायागतस्य द्रव्यस्य बोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ ।
अपात्रे प्रतिपत्तिश्च पात्रे चाप्रतिपादनम् ॥६४॥
द्वावंभसि निवेष्टव्यौ गले बध्द्वा दृढां शिलाम् ।
धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम् ॥६५॥

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र सूर्यमण्डलभेदिनौ ।
परिव्राड्योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥६६॥
त्रयोपाया मनुष्याणां श्रूयन्ते भरतर्षभ ।
कनीयान्मध्यमः श्रेष्ठ इति वेदविदो विदुः ॥६७॥

न्याय से प्राप्त द्रव्य के दो दुरुपयोग जानने योग्य हैं,एक तो अपात्र को देना और दूसरा पात्र को न देना ॥६४॥ दो पुरुष गले में दृढ़शिला बांधकर जल में डुबाने योग्य हैं, दान नहीं देनेवाला धनवान् और तपस्या न करने वाला दरिद्र ॥६५॥ हे पुरुषव्याघ्र! ये दो प्रकार के पुरुष सूर्यमण्डल भेदकर मोक्ष प्राप्त करते हैं, योगयुक्त संन्यासी और संग्राम में सन्मुख वीर ॥६६॥ हे भरतश्रेष्ठ! मनुष्यों की कार्य सिद्धि के लिये तीन उपाय सुने जाते हैं उत्तम, मध्यम, और अधम, ऐसा वेदवेत्ता कहते हैं। साम उत्तम, दाम तथा भेद मध्यम और युद्ध अधम है॥६७॥

त्रिविधाः पुरुषा राजन्नुत्तमाधममध्यमाः ।
नियोजयेद्यथावत्तांस्त्रिविधेष्वेव कर्मसु ॥६८॥
त्रय एवाधना राजन् भार्या दासस्तथा सुतः ।
यत्ते समधिगच्छंति यस्य ते तस्य तद्धनम् ॥६९॥

हे राजन्! पुरुष भी तीन प्रकार के होते हैं उत्तम, मध्यम और अधम इनको तीनों प्रकार के कर्मों में जो जिसके योग्य हो उसी में नियुक्त करना चाहिये। इस कथन से विदुरजी ने यह समझाया है कि, हे राजन्! तुम उपायज्ञ नहीं, क्योंकि तुमने अधम शकुन्यादिकों को उत्तम मंत्रियों के कर्म में नियुक्त किया है ॥६८॥ हे राजन्! स्वामी के विद्यमान होने पर ये तीन धन के अधिकारी नहीं होते हैं, स्त्री, दास और पुत्र। जिस स्वामी के जिस धन को वे स्त्री, दास और पुत्र पाते हैं वह धन और वे स्त्री, दास और पुत्र उस स्वामी के ही तो हैं। भाव यह है स्वामी के विद्यमान रहने पर स्वामी की ही आज्ञा से स्त्री पुत्र और दास धन के मालिक हो सकते हैं न कि स्वतंत्र होकर। इस कथन से विदुरजी ने यह समझाया है कि, आप राज्य और अपने पुत्रादिकों के स्वामी हैं इस कारण आप अपने पुत्रों से पाण्डवों को राज्य दिला सक

हैं। क्योंकि, आपके विद्यमान रहने पर पुत्रादिक राज्य के स्वामी नहीं, वे तो तब तक ही मालिक रह सकते हैं जब तक कि आप उनसे लेने की इच्छा नहीं करते ॥६९॥

हरणं च परस्वानां परदाराभिमर्शनम् ।
सुहृदश्च परित्यागस्त्रयो दोषाः क्षयावहाः ॥७०॥
त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥७१॥
वरप्रदानं राज्यं च पुत्रजन्म च भारत ।
शत्रोश्च मोक्षणं कृच्छ्रात्त्रीणि चैकं च तत्समम् ॥७२॥
भक्तं च भजमानं च तवास्मीति च वादिनम् ।
त्रीनेताञ्छरणं प्राप्तान्विषमेऽपि न संत्यजेत् ॥७३॥

दूसरे के धन का हरण, परस्त्रियों को वलात्कार से दूषित करना, मित्रजनों को त्यागना ये तीनों दोष नाशकारक हैं ॥७०॥ आत्माका नाश करने वाले नरक के तीन दरवाजे हैं, इसलिए काम, क्रोध, और लोभ, इन तीनों को त्याग देना चाहिये ॥७१॥ वरदान पाना, राज्य की प्राप्ति और पुत्रजन्म होना, ये तीनों आनन्द के कारण हैं। परन्तु शत्रु के कष्ट से छूटना यह एक ही आनन्द, इन तीनों के समान है ॥७२॥ अपना भक्त, सेवक और मैं आपका ही हूँ ऐसा कहने वाला इन तीन प्रकार के शरणागत मनुष्यों को संकट पड़ने पर भी नहीं छोड़ना चाहिये॥७३॥

चत्वारि राज्ञा तु महाबलेन वर्ज्यान्याहुः पण्डितस्तानि विद्यात् ।
अल्पप्रज्ञैः सह मंत्रं न कुर्यान्नदीर्घसूत्रै रभसैश्चारणैश्च ॥७४॥
चत्वारि ते तात गृहे वसंतु श्रियाभिजुष्टस्य गृहस्य धर्मे ।
वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीनः सखा दरिद्रो भगिनी चानपत्या ॥७५॥

महाबली राजा के त्यागने योग्य जिन चारों को नीतिवेत्ता कहते हैं वे हैं थोड़ी बुद्धिवाले, शीघ्रता के कार्य में विलम्ब करनेवाले, विचार शून्य और चारण। इन चारों के साथ बैठकर राजा को सलाह नहीं करनी चाहिये। विद्वान् पुरुष ऐसे लोगों को पहचान ले ॥७४॥ हे तात! लक्ष्मीसम्पन्न आपके प्रकार के मनुष्यों को रहना चाहिये। कारण कि,

अपनी ज्ञाति का वृद्ध कुलधर्मों का उपदेश करता है, अवसन्न अपने कुटुम्ब का वृद्ध, संकट में पड़ा कुलीन मनुष्य, धनहीन मित्र और सन्तानरहित बहिन। सज्जन बालकों को आचार सिखाता है। दरिद्र सखा हित की वार्त्ता कहता है; और बिन सन्तानवाली बहिन गृहकार्यों को भली प्रकार कराती है ॥७५॥

चत्वार्याह महाराज साद्यस्कानि बृहस्पतिः ।
पृच्छते त्रिदशेन्द्राय तानीमानि निबोधमे ॥७६॥
देवतानां च संकल्पमनुभावं च धीमताम् ।
विनयं कृतविद्यानां विनाशं पापकर्मणाम् ॥७७॥
चत्वारि कर्माण्यभयंकराणि भयं प्रयच्छंत्ययथाकृतानि ।
मानाग्निहोत्रमुतमानमौनं मानेनाधीतमुत मानयज्ञः ॥७८॥

हे महराज! इन्द्र के पूछने पर बृहस्पतिजी ने जिन चारों को शीघ्र फलसाधक बनाया है, उनको आप मुझसे सुनिये॥७६॥ देवताओं की इच्छा बुद्धिमानों का प्रभाव, विद्यासम्पन्न जनों की विनय, और पापकर्मवाले का विनाश ॥७७॥ चार कर्म अभय करने वाले हैं परन्तु यथावत् किये जाने पर भय देते हैं वे हैं। मानपूर्वक अग्निहोत्र, मान पूर्वक मौन मानपूर्वक अध्ययन और मानपूर्वक यज्ञ ॥७८॥

पञ्चाग्नयो मनुष्येण परिचार्याः प्रयत्नतः ।
पिता माताग्निरात्मा च गुरुश्च भरतर्षभ ॥७९॥
पञ्चैव पूजयँल्लोके यशः प्राप्नोति केवलम् ।
देवान्पितृन्मनुष्यांश्च भिक्षूनतिथिपञ्चमान् ॥८०॥
पञ्चत्वानुगमिष्यंति यत्र यत्र गमिष्यसि ।
मित्राण्यमित्रा मध्यस्था उपजीव्यौपजीविनः ॥८१॥
पञ्चेन्द्रियस्य मर्त्यस्य च्छिद्रं चेदेकमिन्द्रियम् ।
ततोऽस्य स्रवति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥८२॥

हे भरतश्रेष्ठ! मनुष्य को प्रयत्न पूर्वक इन पांच अग्नियों की सेवा करनी चाहिये, पिता, माता, यज्ञाग्नि आत्मा और गुरु ॥७९॥ संसार में इन पांचों को पूजने वाला मनुष्य यश प्राप्त करता है, देवता, पितर, मनुष्य संन्यासी और अतिथि ॥८०॥ जहां जहां आप जायेंगे वहां वहां ये पां

आपके पीछे पीछे रहेंगे, मित्र, शत्रु, मध्यस्थ, आश्रय देने वाले तथा आश्रय पाने वाले ॥८१॥ जिस प्रकार मशक के छेद से पानी बह निकलता है, उसी प्रकार पांच ज्ञानेन्द्रियोंवाले मनुष्य की एक भी इन्द्रिय दोष युक्त हो जाय तो उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है ॥८२॥

षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता ।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोधं आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥८३॥
षडिमान्पुरुषो जह्याद्भिन्नां नावमिवार्णवे ।
अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम् ॥८४॥
अरक्षितारं राजानं भार्यां चाप्रियवादिनीम् ।
ग्रामकामं च गोपालं वनकामं च नापितम् ॥८५॥
षडेव तु गुणाः पुंसा न हातव्याः कदाचन ।
सत्यं दानमनालस्यमनसूया क्षमा धृतिः ॥८६॥

ऐश्वर्य के चाहनेवाले पुरुष को इस लोक में छः दोष त्यागने चाहिए। सोना, निद्राश्रमादि के आलस्य से युक्त रहना और डरना, क्रोध, आलस्य और शीघ्रता के कार्य में देर करना॥८३॥ जिस प्रकार समुद्र के बीच टूटी हुई नाव को त्याग देते हैं उसी प्रकार इन छःओं को पुरुष त्याग दे—उपदेश न देनेवाला आचार्य, मंत्रोच्चारण न करनेवाला होता, रक्षा नहीं करनेवाला राजा, कटुवचन बोलने वाली स्त्री, ग्राम में रहने की इच्छा करनेवाला ग्वाला तथा वन में रहने की इच्छा करनेवाला नाई॥८४॥८५॥ मनुष्य को इन छः गुणों को कभी भी नहीं त्यागना चाहिए—सत्य, दान, कर्मण्यता, दूसरों के गुणों में दोष का आरोपण न करना, क्षमा और धैर्य॥८६॥

अर्थागमो नित्यमरोगिता च प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च ।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ॥८७॥
षण्णामात्मनि नित्यानामैश्वर्यं योऽधिगच्छति ।
न स पापैः कुतोऽनर्थैर्युज्यते विजितेन्द्रियः ॥८८॥
षडिमे षट्सु जीवन्ति सप्तमो नोपलभ्यते ।
चौराः प्रमत्ते जीवंति व्याधितेषु चिकित्सकाः॥८९॥

प्रमदाः कामयानेषु यजमानेषु याजकाः ।
राजा विवदमानेषु नित्यं मूर्खेषु पण्डिताः ॥९०॥

हे राजन्! धन की प्राप्ति, नित्य ही नीरोग रहना, प्रिय बोलनेवाली तथा अनुकूल भार्या, आज्ञाकारी पुत्र और अर्थ करनेवाली विद्या, ये छ जीवलोक के सुख हैं॥८७॥ अपने मन में स्थित रहनेवाले काम क्रोध, शोक, मोह, मान और मद इन छः शत्रुओं को जीतनेवाल जितेंद्रिय पुरुष पापों से ही लिप्त नहीं होता है, फिर अनर्थों कैसे युक्त हो सकता है अर्थात् कभी नहीं हो सकता॥८८॥ आगे लि गये छः प्रकार के मनुष्य छः प्रकार के लोगों से आजीविका चलाते है इन्हें सातवां नहीं मिल सकता है। चौर प्रमत्तजनों से, चिकित्सा करनेवा रोगियों से, वेश्या कामीजनों से, यज्ञ करानेवाले यजमानों से, विवा करनेवालों से राजा और पंडित सदा ही मूर्खों से॥८९॥९०॥

षडिमानि विनश्यंति मुहूर्तमनवेक्षणात् ।
गावः सेवा कृषिर्भार्या विद्यावृषलसङ्गतिः ॥९१॥
षडेते ह्यवमन्यंते नित्यं पूर्वोपकारिणम् ।
आचार्यं शिक्षिताः शिष्याः कृतदाराश्च मातरम् ॥९२॥
नारी विगतकामास्तु कृतार्थाश्च प्रयोजकम् ।
नावं निस्तीर्णकान्तारा आतुराश्च चिकित्सकम् ॥९३॥

मुहूर्त्तमात्र न देखने से ये छः नष्ट हो जाते हैं—गोधन, सेवा, खेती, भा विद्या और शूद्रसंगति॥९१॥ पूर्व उपकार करनेवाले का ये छः निरा करते हैं—पढ़ाई पूरी होने पर शिष्य पढ़ानेवाले आचार्य का, विवा होने पर पुत्र अपना पालन करनेवाली माता का, कामवासना शान्ति हो जाने पर मनुष्य स्त्री का, कृतकार्य मनुष्य सहायक का, दु धारा को पार कर लेने पर पथिक नाव का और स्वस्थ हो जाने रोगीजन वैद्य का निरादर करते हैं॥९२॥९३॥

आरोग्यमानृण्यमविप्रवासः सद्भिर्मनुष्यैः सह संप्रयोगः ।
स्वप्रत्ययावृत्तिरभीतवासः षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ॥९

ईर्षुर्घृणी न सन्तुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कितः ।
परभाग्योपजीवी च षडेते नित्यदुःखिताः ॥९५॥

सप्त दोषाः सदा राज्ञा हातव्या व्यसनोदयाः ।
प्रायशो यैर्विनश्यन्ति कृतमूला अपीश्वराः ॥९६॥

हे राजन्! रोग का न होना, सज्जनों के साथ संगम और अपने अनुकूल जीविका, ये छः जीवलोक के सुख हैं॥९४॥ ईर्ष्या करनेवाला, घृणा करनेवाला, असंतोषी, क्रोध करनेवाला, सदा ही शंकायुक्त रहनेवाला, और दूसरे के भाग्य पर जीनेवाला, ये छः नित्य ही दुःखी रहते हैं॥९५॥ दुःख उत्पन्न करनेवाले सात दोष राजा को सदा ही त्यागने चाहिए, इन दोषों से भली प्रकार जमे हुए सामर्थ्यवान् राजा भी प्रायः नष्ट हो जाते हैं॥९६॥

स्त्रियोऽक्षा मृगया पानं वाक्पारुष्यं च पञ्चमम् ।
महच्च दण्डपारुष्यमर्थदूषणमेव च ॥९७॥
अष्टौ पूर्वनिमित्तानि नरस्य विनशिष्यतः ।
ब्राह्मणान्प्रथमं द्वेष्टि ब्राह्मणैश्च विरुध्यते ॥९८॥
ब्राह्मणस्वानि चादत्ते ब्राह्मणांश्च जिघांसति ।
रमते निन्दया चैषां प्रशंसां नाभिनन्दति ॥९९॥
नैनान्स्मरन्ति कृत्येषु याचितश्चाभ्यसूयति ।
एतान्दोषान्नरः प्राज्ञो बुध्येद् बुद्ध्वा विसर्जयेत् ॥१००॥

पूर्वोक्त सात दोष हैं—अति स्त्रीसेवन, जुआ खेलना, अहेर (शिकार) खेलना, मदिरापान, वचन की कठोरता, अति कठोर दण्ड देना और धन का दुरुपयोग करना॥९७॥ नाश को प्राप्त होनेवाले नर के नाश होने के पूर्व निमित्त आठ हैं—प्रथम तो ब्राह्मणों से वैर करता है, ब्राह्मणों के विरोध का पात्र बनता है॥९८॥ ब्राह्मणों का धन हड़प लेता है, ब्राह्मणोंको मारने की इच्छा करता है, ब्राह्मणों की निन्दा से आनंदित रहता है, ब्राह्मणों की प्रशंसा सुनना नहीं चाहता है॥९९॥ यज्ञ-यज्ञादि में इनका स्मरण नहीं करता तथा कुछ मांगने पर उनमें दोष निकालने लगता है। बुद्धिमान् मनुष्य को इन दोषों को समझकर त्याग देना चाहिए॥१००॥

अष्टाविमानि हर्षस्य नवनीतानि भारत ।
वर्तमानानि दृश्यन्ते तान्येव स्वसुखान्यपि ॥१०१॥

समागमश्च सखिभिर्महांश्चैव धनागमः ।
पुत्रेण च परिष्वङ्गः सन्निपातश्च मैथुने ॥१०२॥
समये च प्रियालापः स्वयूथ्येषु समुन्नतिः ।
अभिप्रेतस्य लाभश्च पूजा च जनसंसदि ॥१०३॥

हे भारत! ये आठ माखन के सदृश सारभूत हर्ष के कारण हैं और ये ही आठ सदा वर्तमान हुए जिसमें दीखते हैं उसके निजसुखरूप हैं॥१०१॥ वे आठ हैं—मित्रों के साथ समागम, धन का मिलना, पुत्र के साथ मिलाप होना, मैथुन में प्रवृत्ति, समय पर प्रिय वचन बोलना, अपने वर्ग के लोगों में उन्नति, मनुष्यों की सभा में सत्कार और अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति॥१०२॥१०३॥

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च ।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥१०४॥
नवद्वारमिदं वेश्म त्रिस्थूणं पञ्चसाक्षिकम् ।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं विद्वान् यो वेद स परः कविः ॥१०५॥
दश धर्मं न जानन्ति धृतराष्ट्र निबोध तान् ॥
मत्तः प्रमत्त उन्मत्तः श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः ॥१०६॥

आठ गुण पुरुष को प्रकाशमान करते हैं—बुद्धि, कुलीनता, इन्द्रियों को वश में करना, शास्त्रश्रवण, थोड़ा बोलना, शक्ति के अनुसार दान करना और कृतज्ञता अर्थात् किसी के द्वारा किये गये उपकार को मानना॥१०४॥ यह शरीररूप तो नौ दरवाजेवाला (आंख, नाक, कान आदि) जिसमें अविद्या, काम, कर्म, ये पांच साक्षी हैं और यह क्षेत्रज्ञ आत्माकार अधिष्ठित है, इसको जो जानता है वह अत्युत्तम विद्वान् है॥१०५॥ हे धृतराष्ट्रजी! दश प्रकार के लोग धर्म को नहीं जानते उनको सुनिये। मदिरादि से मतवाला हुआ, प्रमत्त अर्थात् विषयासक्त होने से असावधान हुआ, अपस्मारादि से उन्मत्त, मार्गादिश्रम से थका हुआ, क्रोधी, भूखा॥१०६॥

त्वरमाणश्च लुब्धश्च भीतः कामी च ते दश ।
तस्मादेतेषु सर्वेषु न प्रसज्जेत पण्डितः ॥१०७॥

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
पुत्रार्थमसुरेन्द्रेण गीतं चैव सुधन्वना ॥१०८॥

यः काममन्यू प्रजहाति राजा पात्रे प्रतिष्ठापयते धनं च ।
विशेषविच्छ्रुतवान् क्षिप्रकारी तं सर्वलोकः कुरुते प्रमाणम् ॥१०९॥
जानाति विश्वासयितुं मनुष्यान् विज्ञातदोषेषु दधाति दण्डम् ।
जानाति मात्रां च तथा क्षमां च तं तादृशं श्रीर्जुषते समग्रा ॥११०॥

जल्दबाज लोभी, भयभीत और कामी। इसलिये धर्म को जाननेवाला पंडित इन दश में आसक्ति न बढ़ावे।।१०७।। यहां इस पुरातन इतिहास को पूर्वाचार्य कहते हैं जो कि पुत्र के लिये असुरेन्द्र सुधन्वा ने कहा है।।१०८।। जो राजा काम और क्रोध को त्यागता है और सुपात्र को धन देता है, विशेषज्ञ है, शास्त्रों का ज्ञाता और कर्तव्य को शीघ्र पूरा करनेवाला है, उस राजा को सब लोग प्रमाण करते हैं।।१०९।। जो मनुष्यों में विश्वास उत्पन्न करना जानता है, दोष जान लेने पर योग्य दण्ड देता है, अपराध के अनुसार दण्डप्रमाण को जानता है, क्षमा को धारण करता है, उस राजा को सम्पूर्ण सम्पत्ति प्राप्त रहती है।।११०।।

सुदुर्बलं नावजानाति कञ्चिद्युक्तो रिपुं सेवते बुद्धिपूर्वम् ।
न विग्रहं रोचयते बलस्थैः काले च यो विक्रमते स धीरः ॥१११॥
प्राप्यापदं न व्यथते कदाचिदुद्योगमन्विच्छति चाप्रमत्तः ।
दुःखं च काले सहते महात्मा धुरंधरस्तस्य जिताः सपत्नाः ॥११२॥

जो किसी शत्रु को भी दुर्बल नहीं जानता है किन्तु सावधान होकर बुद्धिपूर्वक शत्रु के साथ व्यवहार करता है, बलवानों के साथ युद्ध पसन्द नहीं करता और समय पर यथोचित विक्रम करता है, वह धीर है।।१११।। जो आपत्ति पड़ने पर कभी भी व्यथित नहीं होता है, सावधान रहकर उद्योग का आश्रय लेता है और समय पर दुःख सह लेता है वह धुरंधर महात्मा है, उसके शत्रु तो पराजित ही हैं।।११२।।

अनर्थकं विप्रवासं गृहेभ्यः पापैः सन्धिं परदाराभिमर्शम् ।
दम्भं स्तैन्यं पैशुनं मद्यपानं न सेवते यश्च सुखी सदैव ॥११३॥

न संरंभेणारभते त्रिवर्गमाकारितः शंसति तत्त्वमेव
न मित्रार्थे रोचयते विवादं नापूजितः कुप्यति चाप्यमूढ़ः ॥११४॥

जो निरर्थक विदेशवास, पापियों से मेल, परस्त्रीगमन, पाखण्ड, चोरी, चुगलखोरी तथा मदिरापान नहीं करता है वह सदा सुखी रहता है॥११३॥ जो क्रोध अथवा जल्दबाजी में धर्म, अर्थ तथा काम का आरम्भ नहीं करता, पूछने पर यथार्थ बात ही बतलाता है, मित्र के लिये झगड़ा नहीं पसन्द करता, सत्कार न मिलने पर क्रोध नहीं करता वह विद्वान् है॥११४॥

न योऽभ्यसूयत्यनुकम्पते च न दुर्बलः प्रातिभाव्यं करोति
नात्याह किंचित् क्षमते विवादं सर्वत्र तादृग्लभते प्रशंसाम् ॥११५॥
यो नोद्धतं कुरुते जातु वेषं न पौरुषेणापि विकत्थतेऽन्यान्
न मूर्च्छितः कटुकान्याह किंचित् प्रियं सदा तं कुरुते जनो हि ॥११६॥

जो किसी की भी निन्दा नहीं करता है, सदा सब पर दया करता है, दुर्बल होते हुए किसी की जमानत नहीं देता है, बढ़कर नहीं बोलता तथा विवाद को सह लेता है, वह पुरुष सब जगह प्रशंसा पाता है॥११५॥ जो कदाचित् भी उद्धत अर्थात् भयंकर अथवा अपने अयोग्य वेष नहीं धारण करता है, दूसरों के सामने अपने पराक्रम की डींग नहीं हांकता है, क्रोध से व्याकुल होने पर भी कटु वचन नहीं बोलता है, उस मनुष्य को सभी जन अपना प्रिय कर लेते हैं॥११६॥

न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं न दर्पमारोहति नास्तमेति
न दुर्गतोऽस्मीति करोत्यकार्यं तमार्यशीलं परमाहुरार्याः ॥११७॥
न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः
दत्त्वा न पश्चात् कुरुते च तापं स कथ्यते सत्पुरुषार्यशीलः ॥११८॥
देशाचारान्समयान् जातिधर्मान् बुभूषते यः स परावरज्ञः
स यत्र तत्राभिगतः सदैव महाजनस्याधिपत्यं करोति ॥११९॥

जो निवृत्त हुए वैर को फिर नहीं उठाता है, गर्व नहीं करता है और दुर्गति को प्राप्त हो गया हूँ, ऐसा मानकर नहीं करने योग्य कर्म को नहीं करता है उसको आर्यजन अतिश्रेष्ठ कहते हैं॥११७॥ जो अपने सुख में हर्ष नहीं करता है और दूसरे के दुःख में हर्षित नहीं होता है और दे

के पीछे सन्ताप नहीं करता है, वह संसार में सज्जन और आर्यशील कहा जाता है॥११८॥ जो देशानुसार आचार और समयानुसार जातिधर्मों को विभूषित करता है वही विद्वान् है। वह जहां भी जाता है सदा महान् जन समूह पर अपनी प्रभुता स्थापित कर लेता है॥११९॥

दम्भं मोहं मत्सरं पापकृत्यं राजद्विष्टं पैशुनं पूगवैरम् ।
मत्तोन्मत्तैर्दुर्जनैश्चापि वादं यः प्रज्ञावान् वर्जयेत्स प्रधानः ॥१२०॥
दानं मोहं दैवतं मङ्गलानि प्रायश्चित्तान् विविधांल्लोकवादान् ।
एतानि यः कुरुते नैत्यकानि तस्योत्थानं देवता राधयन्ति ॥१२१॥

दम्भ और विषयादिकों में मोह तथा ईर्षा और पापकर्म तथा राजा से वैरभाव और चुगली तथा बहुतों से वैर और मतवाले तता पागल और दुर्जनों के साथ विवाद, इनको जो बुद्धिमान् त्याग देवे, वह श्रेष्ठ है॥१२०॥ दान और मोह अर्थात् प्रीति और दैवतकर्म तथा मङ्गल कार्य और प्रायश्चित्त तथा तरह तरह के लोकवाद इनको नित्य ही जो करता है उसके उद्योग का देवता आराधन करते हैं॥१२१॥

समैर्विवाहं कुरुते न हीनैः समैः सख्यं व्यवहारं कथां च ।
गुणैर्विशिष्टांश्च पुरो दधाति विपश्चितस्तस्य नयाः सुनीताः ॥१२२॥
मितं भुंक्ते संविभज्याश्रितेभ्यो मितं स्वपित्यमितं कर्म कृत्वा ।
ददात्यमित्रेष्वपि याचितः संस्तमात्मवन्तं प्रजहत्यनर्थाः ॥१२३॥

जो अपने बराबरवालों के साथ विवाह, मित्रता, व्यवहार तथा बातचीत करता है और अपने से जो हीन है उनके साथ नहीं करता है, सब कामों में बढ़े-चढ़े पुरुषों को आगे रखता है उस विद्वान् की नीति श्रेष्ठ है॥१२२॥ जो अपने आश्रित स्त्री, पुत्र, नौकर आदि के लिये बाँटकर थोड़ा ही भोजन करता है और बहुत अधिक काम करके भी थोड़ा सोता है, मांगने पर शत्रुओं को भी जो धन देता है उस विचारशील पुरुष को अनर्थ त्याग देते हैं॥१२३॥

चिकीर्षितं विप्रकृतं च यस्य नान्ये जनाः कर्म जानन्ति किंचित् ।
मन्त्रे गुप्ते सम्यगनुष्ठिते च नाल्पेऽप्यस्य च्यवते कश्चिदर्थः ॥१२४॥

यः सर्वभूतप्रशमे निविष्टः सत्यो मृदुर्मानकृच्छुद्धभावः ।
अतीव स ज्ञायते ज्ञातिमध्ये महामणिर्जात्य इव प्रसन्नः ॥१२५॥

जिसके अपनी इच्छा के अनुकूल और दूसरों की इच्छा के विरुद्ध कार्य को दूसरे लोग कुछ भी नहीं जान पाते, सलाह गुप्त रहने और अभीष्ट कार्य का ठीक ठीक सम्पादन होने के कारण उसका कुछ भी काम बिगड़ने नहीं पाता॥१२४॥ जो समस्त प्राणियों को शान्ति देने में लगा रहता है, सत्यवादी, कोमल, दूसरों को आदर देनेवाला तथा पवित्र विचारवाला होता है, वह अच्छी खान से निकले और चमकते हुए श्रेष्ठ रत्न की तरह अपनी जातिवालों में अधिक प्रसिद्धि पाता है॥१२५॥

य आत्मनापत्रपते भृशं नरःस सर्वलोकस्य गुरुर्भवत्युत ।
अनन्ततेजाः सुमनाः समाहितःस तेजसा सूर्य इवावभासते ॥१२६॥
वने जाताः शापदग्धस्य राज्ञः पाण्डोः पुत्राः पञ्च पञ्चेन्द्रकल्पाः ।
त्वयैव बाला वर्धिताः शिक्षिताश्च तवादेशं पालयंत्याम्बिकेय ॥१२७॥
प्रदायैषामुचितं तात राज्यं सुखी पुत्रैः सहितो मोदमानः ।

जो स्वयम् ही लज्जाशील हैं, वह सब लोगों में श्रेष्ठ समझा जाता है वह अपने अनन्त तेज, शुद्ध लग्न एवं एकाग्रता से युक्त होने के कारण कान्ति में सूर्य के समान शोभित होता है ॥१२६॥ हे आम्बिकेय! शाप से दग्ध हुए पांडु के पांच इन्द्र के समान वन में उत्पन्न हुए पांचों बालक पुत्र आपने ही बढ़ाये और पढ़ाये हैं वे सदा आपकी आज्ञा का पालन कर रहे हैं ॥१२७॥ इस कारण हे तात! उनको यथोचित उनका राज्य देकर पुत्रों सहित आनन्द भोगिये।

न देवानां नापि च मानुषाणां भविष्यसि त्वं तर्कणीयो नरेन्द्र ॥१२८॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि
विदुरनीतिवाक्ये त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥३३॥

ऐसा करने से हे नरेन्द्र! आप फिर न देवताओं के और न मनुष्यों के शंका करने योग्य रह जायंगे। ॥१२८॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये
श्रीपाठकवंशावतंसपंडित, मङ्गलसेनात्मजकाशिरामविरचित
हिन्दीतिलके त्रयस्त्रिंशोऽध्याय ॥३३॥

दूसरा अध्याय

धृतराष्ट्र उवाच

जाग्रतो दह्यमानस्य यत्कार्यमनुपश्यसि ।
तद्ब्रूहि त्वं हि नस्तात धर्मार्थकुशलोह्यसि ॥१॥

धृतराष्ट्र बोले–हे तात! जागने वाले मुझ चिन्ताग्नि से जलते हुए के करने योग्य जिस कर्म को आप देखते हो, उसको मुझसे कहिये। क्योंकि तुम धर्म और अर्थ इन दोनों में कुशल हो ॥१॥

त्वं मां यथावद्विदुर प्रशाधि प्रज्ञापूर्वं सर्वमजातशत्रोः ।
यन्मन्यसे पथ्यमदीनसत्व श्रेयस्करं ब्रूहि तद्वै कुरूणाम् ॥२॥
पापाशङ्की पापमेवानुपश्यन् पृच्छामि त्वां व्याकुलेनात्मनाहम् ।
कवे तन्मे ब्रूहि सर्वं यथावन् मनीषितं सर्वमजातशत्रोः ॥३॥

विदुर उवाच

शुभं वा यदि वा पापं द्वेष्यं वा यदि वा प्रियम् ।
अपृष्टस्यास्य तद्ब्रूयाद्यस्यनेच्छेत्पराभवम् ॥४॥

हे विदुरजी! आप मुझको बुद्धिपूर्वक यथोचित शिक्षा करिये। हे अदीनात्मन्! अजातशत्रु युधिष्ठिर तथा कौरवों के हित और कल्याण कारक जो उपाय मानते हो वह मुझसे कहिये ॥२॥ पाप की शंका करने वाला मैं पाप को ही देखता हूँ। इस कारण व्याकुल होकर आपसे पूछता हूँ। हे कवे! वह समस्त मुझसे यथावत् कहिये, जो कि युधिष्ठिर का वांछित है ॥३॥ तब इतना वचन सुन विदुरजी महाराज धृतराष्ट्रजी से कहने लगे। हे महाराज! शुभ हो अथवा अशुभ, प्रिय हो अथवा अप्रिय, बिना पूछे हुये भी सब उसको बता देना चाहिये, जिसकी कि पराजय नहीं चाहता हो॥४॥

तस्माद्वक्ष्यामि ते राजन् हितं यत्स्यात्कुरुन्प्रति ।
वचः श्रेयस्करं धर्म्यं ब्रुवतस्तन्निबोध मे ॥५॥

मिथ्योपेतानि कर्माणि सिद्धयेयुर्यानि भारत ।
अनुपायप्रयुक्तानि मा स्म तेषु मनः कृथाः ॥६॥
तथैव योगविहितं यत्तु कर्म न सिद्धयति ।
उपाययुक्तं मेधावी न तत्र ग्लपयेन्मनः ॥७॥
अनुबन्धानपेक्षेत सानुबन्धेषु कर्मसु ।
संप्रधार्य च कुर्वीत न वेगेन समाचरेत् ॥८॥

इसलिये हे राजन्! आप से धर्मयुक्त कल्याणकारक वचन कहूँगा जो कि कौरवों के प्रति हितकारक हो। आप ध्यान देकर सुनें ॥५॥ हे भारत! जो कर्म कपटयुक्त और असत् उपायों से संयुक्त हुए सिद्ध होते हैं उनमें आप अपना चित्त कदाचित् भी न करिये ॥६॥ जो कर्म यत्न से बचा हुआ और उपाय से युक्त होकर भी न सिद्ध होवे तो उसमें बुद्धिमान् नर चित्त को न बिगाड़े ॥७॥ प्रयोजनयुक्त कर्मों के बारे में प्रयोजनों की ही अपेक्षा करें और विचार करके कर्मों को करें, शीघ्रता के साथ कर्मों का प्रारम्भ न करें ॥८॥

अनुबन्धं च संप्रेक्ष्य विपाकं चैव कर्मणाम् ।
उत्थानमात्मनश्चैव धीरः कुर्वीत वा न वा ॥९॥
यः प्रमाणं न जानाति स्थाने वृद्धौ तथा क्षये ।
कोशे जनपदे दण्डे न स राज्येऽवतिष्ठते ॥१०॥
यस्त्वेतानि प्रमाणानि यथोक्तान्यनुपश्यति ।
युक्तो धर्मार्थयोर्ज्ञाने स राज्यमधिच्छगति ॥११॥
न राज्यं प्राप्तमित्येव वर्तितव्यमसांप्रतम् ।
श्रियं ह्यविनयो हन्ति जरा रूपमिवोत्तमम्॥१२॥

प्रथम प्रयोजन फिर कर्मों का फल तत्पश्चात् अपना उद्यम अर्थात् क की शक्ति इनको देखकर चतुर धीरजन कर्मों को करे और इनको देखकर नहीं करे ॥९॥ जो स्थिति, वृद्धि, क्षय, कोश, देश तथा द इनके बारे में प्रमाण को नहीं जानता है वह राज्य पर स्थित नहीं रह है ॥१०॥ जो धर्म अर्थ और ज्ञान में दतचित्त होकर इन कहे प्रमाणों को यथावत् जानता है वह राज्य को अधिगत होता है ॥१ प्राप्त हुआ राज्य अयोग्यता के साथ नहीं करना चाहिये क्यों

अविनय राज्यलक्ष्मीका शीघ्र ही नाश कर देती है, जिस प्रकार कि उत्तम रूप को जरा (वृद्धावस्था) विगाड़ देती है ॥१२॥

भक्ष्योत्तमप्रतिच्छन्नं मत्स्यो बडिशमायसम् ।
लोभाभिपाती ग्रसते नानुबन्धमवेक्षते ॥१३॥
यच्छक्यं ग्रसितुं ग्रस्यं ग्रस्तं परिणमेच्च यत् ।
हितं च परिणामे यत्तदाद्यं भूतिमिच्छता ॥१४॥
वनस्पतेरपक्वानि फलानि प्रचिनोति यः ।
स नाप्नोति रसं तेभ्यो बीजं चास्य विनश्यति ॥१५॥
यस्तु पक्वमुपादत्ते काले परिणतं फलम् ।
फलाद्रसं स लभते बीजाच्चैव फलं पुनः ॥१६॥

जो कि देखने में उत्तम हो और परिणाम में बुरा हो ऐसे कर्म के करने में प्रयोजन नहीं देखता है, वह भ्रष्ट हो जाता है। जिस प्रकार कि उत्तम भक्षणयोग्य पदार्थ से ढ़के हुए लोह के बने कांटे को लोभ में पड़कर मछली निगल जाती है और उसमें प्रयोजन को नहीं देखती है ॥१३॥ अपनी उन्नति चाहने वाले को वही वस्तु खानी, (या ग्रहण करनी) चाहिये, जो खाने योग्य हो और खायी जा सके, खाने या ग्रहण करने पर पच सके और पच जाने पर हितकारी हो ॥१४॥ जो वृक्ष से कच्चे फलों को तोड़ता है, उसको उन फलों से रस तो मिलता ही नहीं, उल्टे उस वृक्ष के बीज का नाश होता है ॥१५॥ जो समय पर परिणाम को प्राप्त हुए पके फलों को ग्रहण करता है वह उन फलों का रस प्राप्त करता है और फिर उस फल के बीज से फल भी प्राप्त करता है ॥१६॥

यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः ।
तद्वदर्थान्मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया ॥१७॥
पुष्पंपुष्पं विचिन्वीत मूलच्छेदं न कारयेत् ।
मालाकार इवारामे न यथाङ्गारकारकः ॥१८॥
किन्नु मे स्यादिदं कृत्वा किन्नु मे स्यादकुर्वतः ।
इति कर्माणि संचित्य कुर्याद्वा पुरुषो न वा ॥१९॥

जिस प्रकार कि भ्रमर फूलों की रक्षा करता हुआ मधु को ग्रहण करता है उसी प्रकार मनुष्यों से अहिंसा कर ही अर्थों का ग्रहण करे ॥१७॥

जिस प्रकार कि माली बाग में फूलों फूलों को ही ग्रहण करता है और वृक्ष के जड़ का छेदन नहीं करता है उसी प्रकार राजा भी अपने राज्य में प्रजाओं से अर्थ का ग्रहण करे, उन प्रजाओं का नाश न करे। जिस प्रकार काष्ठ जलाने वाला वृक्ष की जड़ को छेदन करता है और उसके पत्रपुष्पादि को नहीं ग्रहण करता है उस प्रकार राजा को प्रजा का छेदन न करना चाहिये ॥१८॥ इस कर्म को करके मुझको क्या शुभ अशुभ फल होगा अथवा इस कर्म को न करके मुझको क्या शुभ अशुभ फल न होगा ऐसा विचारकर कर्मों को करे और बिना विचारे कर्म न करे॥१९॥

अनारम्या भवंत्यर्थाः केचिन्नित्यं तथाऽगताः ।
कृतः पुरुषकारो हि भवेद्येषु निरर्थकः ॥२०॥
प्रसादो निष्फलो यस्य क्रोधश्चापि निरर्थकः ।
न तं भर्तारमिच्छन्ति षण्ढं पतिमिव स्त्रियः ॥२१॥
कांश्चिदर्थान्नरः प्राज्ञो लघुमूलान्महाफलान् ।
क्षिप्रमारभते कर्तुं न विघ्नयति तादृशान् ॥२२॥
ऋजु पश्यति यः सर्वं चक्षुषानुपिबन्निव ।
आसीनमपि तूष्णीकमनुरज्यन्ति तं प्रजाः ॥२३॥

कुछ ऐसे व्यर्थ कार्य हैं, जो नित्य अप्राप्त होने के कारण नहीं आरम्भ करने योग्य हैं, जैसे कि सबलों से बैर आदि करना कारण कि, ऐसे जिन कार्यों के लिये जो पुरुषार्थ किया जाता है वह पुरुषार्थ उन कार्यों के लिए निष्फल हो जाता है ॥२०॥ जिसकी प्रसन्नता भी निष्फल हो और क्रोध भी निष्फल हो उसको लोक अपना स्वामी करना नहीं इच्छा करते हैं। जिस प्रकार कि स्त्रियाँ नपुंसक को पति करना नहीं इच्छा करती हैं ॥२१॥ जिनकी जड़ (साधना) तो अल्प हो और फल अधिक हो ऐसे कार्यों को बुद्धिमान् मनुष्य शीघ्र ही प्रारंभ कर देता है उनमें विघ्न नहीं आने देता ॥२२॥ जो नेत्रों से मानो सब लोकों को पीता हुआ सरलतापूर्वक देखता है वह यदि मौन होकर भी बैठा हो तो भी उसका समस्त प्रजा अनुराग करती है। भाव यह है कि, जो अपनी दृष्टिमात्र से ही सबको प्रसन्न करता है वह यदि न भी बोले तब

उसमें प्रजा प्रीति करती है ॥२३॥

सुपुष्पितः स्यादफलः फलितः स्याद्दुरारुहः ।
अपक्वः पक्वसंकाशो न तु शीर्येत कर्हिचित् ॥२४॥
चक्षुषा मनसा वाचा कर्मणा च चतुर्विधम् ।
प्रसादयति यो लोकं तं लोकोऽनुप्रसीदति ॥२५॥
यस्मात्त्रस्यन्ति भूतानि मृगव्याधान्मृगा इव ।
सागरान्तामपि महीं लब्ध्वा स परिहीयते ॥२६॥

जो राजा वृक्ष की तरह सुन्दर सुन्दर फूलों से युक्त (प्रसन्न) रहने पर भी फल रहित (अधिक न देनेवाला) हो, फलों से युक्त (देनेवाला) तो हो किन्तु सुखकर चढ़ने योग्य न हो, पहुँच के बाहर हो। पका हुआ (शक्तिशाली) न होने पर भी पके हुये (शक्तिशाली) के समान अपने को जाहिर करे, वह कभी नष्ट नहीं होता है ॥२४॥ जो राजा नेत्र, मन, वाणी और कर्म इनसे चारों तरह लोक को प्रसन्न करता है उस पर लोक प्रसन्न होता है ॥२५॥ जिस प्रकार मृग के शिकारी से मृग डरते हैं, उसी प्रकार जिससे प्राणी डरते हैं वह राजा समुद्रपर्यंत पृथ्वी को पाकर भी भ्रष्ट हो जाता है ॥२६॥

पितृपैतामहं राज्यं प्राप्तवान्स्वेन कर्मणा ।
वायुरभ्रमिवासाद्य भ्रंशयत्यनये स्थितः ॥२७॥
धर्ममाचरतो राज्ञः सद्भिश्चरितमादितः ।
वसुधा वसुसंपूर्णा वर्धते भूतिवर्धनी ॥२८॥
अथ संत्यजतो धर्ममधर्मं चानुतिष्ठतः ।
प्रतिसंवेष्टते भूमिरग्नौ चर्माहितं यथा ॥२९॥
य एव यत्नः क्रियते परराष्ट्रविमर्दने ।
स एव यत्नः कर्तव्यः स्वराष्ट्रपरिपालने ॥३०॥

अनीति में स्थित वह अपने ही कर्मों से पितृ पितामह के राज्य को प्राप्त होकर भी उसे इस तरह से नष्ट कर देता है जिस प्रकार कि, पवन बादलों को नष्ट कर देता है ॥२७॥ धर्म और शिष्टजनों के द्वारा किये हुए धर्माचरण को आदि से सेवन करते हुए राजा का ऐश्वर्य बढ़ानेवाली द्रव्यों से परिपूरित हुई पृथ्वी बढ़ती है ॥२८॥ धर्म को त्यागने वाले

और अधर्म के सेवन करने वाले राजा की पृथ्वी वैसे ही संकुचित हो जाती है जैसे कि, अग्नि में रखा हुआ चर्म संकुचित हो जाता है ॥२९॥ जो यत्न वैरी के राज्य को नष्ट करने में किया जाता है वही यत्न अपने राज्य की रक्षा करने में करना चाहिये ॥३०॥

धर्मेण राज्यं विन्देत धर्मेण परिपालयेत् ।
धर्ममूलां श्रियं प्राप्य न जहाति न हीयते ॥३१॥
अप्युन्मत्तात्प्रलपतो बालाच्च परिजल्पतः ।
सर्वतः सारमादद्यादश्मभ्य इव काञ्चनम् ॥३२॥
सुव्याहृतानि सूक्तानि सुकृतानि ततस्ततः ।
सञ्चिन्वन्धीर आसीत शिलाहारी शिलं यथा ॥३३॥
गन्धेन गावः पश्यन्ति वेदैः पश्यन्ति ब्राह्मणाः ।
चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः ॥३४॥

धर्म से राज्य प्राप्त करे और धर्म से ही राज्य की रक्षा करे। कारण कि धर्म है मूल जिसका ऐसी लक्ष्मी को प्राप्तकर न तो राजा लक्ष्मी को त्याग सकता है और न ही लक्ष्मी उस राजा को छोड़ती है ॥३१॥ अनर्थ वाक्य कहनेवाले उन्मत्त और वृथा बकते हुए बालक से भी सब प्रकार से सारवार्ता को ग्रहण कर लेवें जिस प्रकार कि, पत्थरों के मध्य से खोजकर सुवर्ण ग्रहण किया जाता है ॥३२॥ इधर उधर से भले प्रकार कहे हुए सुन्दर सुन्दर हितकारक वाक्यों को संचय करता हुआ धीरजन स्थित होवें जिस प्रकार कि शिल बीननेवाला शिल को एक एक बीनता हुआ स्थित होता है ॥३३॥ गौ आदि पशु गन्ध से देखते और ब्राह्मण वेदों द्वारा देखते हैं और राजा संदेश देनेवाले दूतों के द्वारा देखते हैं और नेत्रों से अन्यजन देखते हैं ॥३४॥

भूयांसं लभते क्लेशं या गौर्भवति दुर्दुहा ।
अथ या सुदुहा राजन्नैव तां वितुदन्त्यपि ॥३५॥
यदतप्तं प्रणमति न तत्संतापयन्त्यपि ।
यच्च स्वयं नतं दारु न तत्संतापयंत्यपि ॥३६॥
एतयोपमया धीरः सन्नमेत बलीयसे ।
इन्द्राय स प्रणमते नमते यो बलीयसे ॥३७॥

पर्जन्यनाथाः पशवो राजानो मंत्रिबान्धवाः ।
पतयो बान्धवाः स्त्रीणां ब्राह्मणा वेदबान्धवाः ॥३८॥

हे राजन्! जो गौ कठिनता से दुहने योग्य होती है, वह बहुत क्लेश पाती है और जो कि, सुखपूर्वक दुहे जाने वाली होती है उसको कोई भी व्यथित नहीं करता है॥३५॥ जो धातु विना गरम किये मुड़ जाता है उसको कोई भी नहीं तपाता है, जिस प्रकार कि जो काष्ठ स्वयं ही झुका हुआ है उसको कोई भी नही झुकाता है ॥३६॥ इस कथन के अनुसार बुद्धिमान मनुष्य को अपने से बलवान् के सामने झुक जाना चाहिये। जो अधिक बलवान् के सामने झुकता है, वह साक्षात् इन्द्र को प्रणाम करता है ॥३७॥ पशुओं के रक्षक मेघ हैं और राजाओं के सहायक मन्त्री हैं और स्त्रियों के बान्धव (रक्षक) पति हैं और ब्राह्मणों के बान्धव वेद हैं॥३८॥

सत्येन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते ।
मृजया रक्ष्यते रूपं कुलं वृत्तेन रक्ष्यते ॥३९॥
मानेन रक्ष्यते धान्यमश्वान् रक्षत्यनुक्रमः ।
अभीक्ष्णदर्शनं गाश्च स्त्रियो रक्ष्याः कुचैलतः ॥४०॥
न कुलं वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति मे मतिः ।
अन्त्येष्वपि हि जातानां वृत्तमेव विशिष्यते ॥४१॥

सत्य से धर्म की रक्षा होती है, अभ्यास से विद्या की रक्षा होती है, मार्जनोद्वर्त्तनादि शुद्धि से रूप की रक्षा होती है और शुभ आचार से कुल की रक्षा होती है ॥३९॥ तोल माप से धान्य रक्षित रहता है और अनुक्रम (चलाना फिराना आदि) घोड़ों की रक्षा करता है और बारंबार का देखना गौओं की रक्षा करता है और मलीन तथा कुत्सित वस्त्रों से स्त्रियां रक्षित रहती है ॥४०॥ मेरा विचार तो ऐसा है कि, आचारवर्जित जन का कुछ प्रमाण नहीं होता है कारण कि, नीच कुल में उत्पन्न हुए जनों का भी आचार ही कुल से विशेष होता है भाव यह हैं कि, जो आचार से भ्रष्ट है उनका कुल यदि उत्तम हो तब भी माननीय नहीं और जो, कि आचार से युक्त है वह यदि नीचकुल में भी जन्म हो तब भी माननीय है ॥४१॥

य ईर्षुः परवित्तेषु रूपे वीर्ये कुलान्वये ।
सुखसौभाग्यसत्कारे तस्य व्याधिरनन्तकः ॥४२॥
अकार्यकारणाद्भीतः कार्याणां च विवर्जनात् ।
अकाले मन्त्रभेदाच्च येन माद्येन्न तत्पिबेत् ॥४३॥
विद्यामदो धनमदस्तृतीयोऽभिजनो मदः ।
मदा एतेऽवलिप्तानामेत एव सतां दमाः ॥४४॥

जो कि, दूसरों के धनों में तथा रूप वीर्य; कुल, सुख, सौभाग्य, सत्कार में ईर्षा करता है उसको वह व्याधि विद्यमान रहती है जिसका कि कभी अन्त नहीं होता ॥४२॥ हे राजन्! नहीं करने योग्य कार्य के करने में और करने योग्य कार्य के त्यागने से और असमय में मंत्रभेद से अर्थात् कार्य के न सिद्ध होने से पूर्व ही सलाह के प्रकट हो जाने से भयभीत रहे और जिसके पान करने से नशा चढ़े उस पेय को नहीं पीना चाहिए ॥४३॥ एक विद्यामद, दूसरा धनमद, तीसरा परिवार सहाय मद है गर्विष्ठों के लिये ये तीनों मद हैं और सज्जनों के लिये ये तीनों दम हैं॥४४॥

असंतोभ्यर्थिताः सद्भिः क्वचित्कार्ये कदाचन ।
मन्यन्ते संतमात्मानमसंतमपि विश्रुतम् ॥४५॥
गतिरात्मवतां सन्तः सन्त एव सतां गतिः ।
असतां च गतिः सन्तो न त्वसन्तः सतां गतिः ॥४६॥
जिता सभा वस्त्रवता मिष्टाशा गोमता जिता ।
अध्वा जितो यानवता सर्वं शीलवता जितम् ॥४७॥
शीलं प्रधानं पुरुषे तद्यस्येह प्रणश्यति ।
न तस्य जीवितेनार्थो न धनेन न बन्धुभिः ॥४८॥

कदाचित् किसी कार्य में सज्जनों द्वारा असज्जन प्रार्थना किये जायें वे असज्जन सज्जनों की प्रार्थना मात्र से अपने असत् आत्मा को अ[illegible] मानते हैं ॥४५॥ ज्ञानवान् जनों की गति सज्जन होते हैं और सज्जन सज्जनों की गति होते हैं और असज्जनों की गति भी सज्जन होते परंतु सज्जनों की गति असज्जन नही होते हैं ॥४६॥ व्यवस्थित पोश[illegible] वाला अपने प्रभाव से सभी को जीत लेता है, गो रखने वाला मीठे स्व[illegible]

की आकांक्षा को जीत लेता हैं, जिसके पास सवारी है वह मार्ग को जीत लेता है और शीलवान् सबको जीत लेता है ।।४७।। पुरुष में शील प्रधान है, वह शील जिसका इस लोक में नष्ट हो जाता है उसका जीवन, और धन और बन्धुओं से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है ।।४८।।

आढ्यानां मांसपरमं मध्यानां गोरसोत्तरम् ।
तैलोत्तरं दरिद्राणां भोजनं भरतर्षभ ।।४९।।
संपन्नतरमेवान्नं दरिद्रा भुञ्जते सदा ।
क्षुत्स्वादुतां जनयति सा चाढ्येषु सुदुर्लभा ।।५०।।
प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते ।
जीर्यत्यपि हि काष्ठानि दरिद्राणां महीपते ।।५१।।
अवृत्तिर्भयमंत्यानां मध्यानां मरणाद्भयम् ।
उत्तमानां तु मर्त्यानामवमानात्परं भयम् ।।५२।।

हे भरतर्षभ! धनवानों का भोजन वह होता है जिसमें मांस अधिक हो और मध्यम जनों का भोजन वह होता है जिसमें गोरस (दुग्ध, घृत, दध्यादिक), बहुत हों और दरिद्रजनों का भोजन वह होता है जिसमें तैल अधिक हो ।।४९।। दरिद्रजन सदा अतिस्वादपूर्वक भोजन करते हैं, कारण कि क्षुधा उनके भोजन में जैसा स्वाद उत्पन्न कर देती है वैसा स्वाद धनवानों के लिये दुर्लभ है ।।५०।। हे महीपते! संसार में बहुधा लक्ष्मीवानों को भोजन करने की शक्ति नहीं होती है पर दरिद्रजनों के पेट में भोजन किये हुए काष्ठ भी पच जाते हैं ।।५१।। अधम वा दरिद्रजनों को जीविका के न होने का भय होता है, मध्यमजनों को मरण से भय होता है और उत्तमजनों को अपमान होने से परम भय होता है ।।५२।।

ऐश्वर्यमदपापिष्ठा मदाः पानमदादयः ।
ऐश्वर्यमदमत्तो हि नापतित्वा विबुध्यते ।।५३।।
इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु वर्तमानैरनिग्रहैः ।
तैरयं ताप्यते लोको नक्षत्राणि ग्रहैरिव ।।५४।।
यो जितः पञ्चवर्गेण सहजेनात्मकर्षिणा ।
आपदस्तस्य वर्धन्ते शुक्लपक्ष इवोडुराट् ।।५५।।

अविजित्य यथात्मानममात्यान् विजिगीषते ।
अमित्रान्वाजितामात्यः सोऽवशःपरिहीयते ॥५६॥

मदिरापानादिक मदों में ऐश्वर्यमद अतीव निन्दित है कारण कि, ऐश्वर्यमद से मतवाला हुआ मनुष्य जब तक कि दरिद्रता को प्राप्त नहीं होता है तब तक सावधान नहीं होता है अपितु दरिद्रता को प्राप्त होकर ही सावधान होता है ॥५३॥ वश में न होने के कारण विषयों में रमने वाली इन्द्रियों के कारण यह संसार उसी प्रकार दबाया जाय जिस प्रकार सूर्यादि ग्रहों द्वारा नक्षत्र दवाये जाते हैं ॥५४॥ स्वभाव से ही खींचने वाली पांचों इंद्रियों के जो वशीभूत हो जाता है उसकी आपत्तियाँ बढ़ती ही जाती हैं जिस प्रकार कि शुक्लपक्ष में चंद्रमा बढ़ता जाता है ॥५५॥ जो अपने आत्मा को नहीं जीतकर अमात्य और शत्रुओं के जीतने की इच्छा करता है उससे अमात्य और शत्रु भी नही जीते जाते हैं। वह आप ही अवश होकर राज्य से भ्रष्ट हो जाता है॥५६॥

आत्मानमेव प्रथमं द्वेष्यरूपेण योजयेत् ।
ततोऽमात्यानमित्रांश्च न मोघं विजिगीषते ॥५७॥
वश्येन्द्रियं जितात्मानं धृतदण्डं विकारिषु ।
परीक्ष्यकारिणं धीरमत्यंतं श्रीर्निषेवते ॥५८॥
रथः शरीरं पुरुषस्य राजन्नात्मा नियन्तेन्द्रियाण्यस्य चाश्वाः ।
तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वैर्दान्तैः सुखं याति रथीव धीरः ॥५९॥

प्रथम मन को जीत लेवे तदनन्तर जिस प्रकार कि, निष्फल उद्योग न हो, उस प्रकार अमात्य और शत्रुओं के जीतने की इच्छा करे ॥५७॥ जिसकी इन्द्रियां वशीभूत रहती हैं, जिसने अपने मन को जीत लिया है जिसने अपराधियों के लिये दण्ड रखा है और जो परीक्षा करके कार्य करता है उस धीर राजा की सदा ही लक्ष्मी सेवा करती हैं ॥५८॥ राजन्! इस पुरुष का शरीर रथ है, आत्मा सारथि है, इन्द्रियां घोडे हैं इनको वश में करके सावधान हुआ कुशल एवं धीरजन इस प्रकार संसार में विचरता है जिस प्रकार रथी अच्छी तरह वश में किये हुए श्रेष्ठ घोड़ों से मार्ग में चलता है ॥५९॥

एतान्यनिगृहीतानि व्यापादयितुमप्यलम् ।
अविधेया इवादान्ता हयाः पथि कुसारथिम् ॥६०॥
अनर्थमर्थतः पश्यन्नर्थं चैवाप्यनर्थतः ।
इन्द्रियैरजितैर्बालः सुदुःखं मन्यते सुखम् ॥६१॥
धर्मार्थौ यः परित्यज्य स्यादिन्द्रियवशानुगः ।
श्रीप्राणधनदारेभ्यः क्षिप्रं स परिहीयते ॥६२॥
अर्थानामीश्वरो यः स्यादिन्द्रियाणामनीश्वरः ।
इन्द्रियाणामनैश्वर्यादैश्वर्याद् भ्रश्यते हि सः ॥६३॥

वश में न रहने पर ये इन्द्रियां पुरुष का नाश कर देती हैं, जिस प्रकार कि, नहीं सिखलाये हुए और नहीं वश में किये हुए घोड़े मार्ग में सारथि को पटक देते हैं ॥६०॥ जो नहीं जीती गयी इन्द्रियों से पराजित होकर और अनर्थ को अर्थ, अर्थ को अनर्थ दुःखको सुख मानता हैं, वह मूर्ख है ॥६१॥ जो धर्म और अर्थ इन दोनों को त्यागकर इन्द्रियों के वश में चलता है वह लक्ष्मी, प्राण, धन तथा स्त्रियों से शीघ्र ही भ्रष्ट हो जाता है ॥६२॥ जो अर्थों का तो स्वामी है पर इन्द्रियों का स्वामी नहीं है वह इंद्रियों का स्वामी न होने से ऐश्वर्य से भ्रष्ट हो जाता है। भाव यह है कि ऐश्वर्य पाकर जो अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं रखता है वह इसी दोष से ऐश्वर्य से भ्रष्ट हो जाता है॥६३॥

आत्मनात्मानन्विच्छेन्मनोबुद्धीन्द्रियैर्यतैः ।
आत्मा ह्येवात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥६४॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनैवात्मात्मना जितः ।
स एव नियतो बन्धुः स एव नियतो रिपुः ॥६५॥
क्षुद्राक्षेणैव जालेन झषावपि हितावुरू ।
कामश्च राजन् क्रोधश्च तौ प्रज्ञानं विलुंपतः ॥६६॥
समवेक्ष्येह धर्मार्थौ संभारान् योऽधिगच्छति ।
स वै संभृतसंभारः सततं सुखमेधते ॥६७॥

मन, बुद्धि और इन्द्रियों को अपने अधीन करके अपने से ही अपने आत्मा को जानने की इच्छा करे क्योंकि आत्मा ही आत्मा का बन्धु और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है॥६४॥ जिस आत्मा द्वारा आत्मा

जीता गया है उसी आत्मा का आत्मा बंधु है और जिस आत्मा द्वारा आत्मा नहीं जीता गया है उसी आत्मा का आत्मा शत्रु है। इस कारण आत्मा ही अपना नियत बन्धु और आत्मा ही अपना नियत शत्रु है॥६५॥ जिस प्रकार सूक्ष्म छेदवाले जाल में फंसी हुई दो बड़ी बड़ी मछलियां मिलकर जाल काट डालती है, उसी प्रकार हे राजन्! काम और क्रोध ये दोनों बुद्धि के थोड़े से छिद्र मात्र से महत् ज्ञान को लोप कर देते हैं॥६६॥ जो यहां धर्म और अर्थ इन दोनों को देखकर साधनों को प्राप्त होता है वह संचित साधनोंवाला निरन्तर सुख पाता रहता है॥६७॥

यः पञ्चाभ्यंतराञ्शत्रूनविजित्य मनोमयान् ।
जिगीषति रिपूनन्यान् रिपवोऽभिभवन्ति तम् ॥६८॥
दृश्यन्ते हि महात्मानो बध्यमानाः स्वकर्मभिः ।
इन्द्रियाणामनीशत्वाद्राजानो राज्यविभ्रमैः ॥६९॥
असंत्यागात्पापकृतामपापांस्तुल्यो दण्डः स्पृशते मिश्रभावात् ।
शुष्केणार्द्रं दह्यते मिश्रभावात्तस्मात्पापैः सह सन्धिं न कुर्यात् ॥७०॥

जो मन है प्रधान जिनमें ऐसे भीतर के पांचों इंद्रियरूपी शत्रुओं को न जीतकर अन्य शत्रुओं को जीतना चाहता है उसको वह शत्रु ही पराजित कर देते हैं॥६८॥ जिस प्रकार कि अपने कर्मों से बंधे हुए महात्मा जन दीखते हैं उसी प्रकार इंद्रियों के वश में न करने से राजा लोग दीखते हैं॥६९॥ पापकर्म करनेवालों का त्याग करने से, उनके साथ मिलने से अपापियों को भी पापियों के समान दण्ड स्पर्श करता है, जिस प्रकार कि सूखे ईंधन के साथ मिलने से गीला ईंधन जल जाता है। इस कारण पापियों के साथ सलाह न करे॥७०॥

निजानुत्पततः शत्रून्पंच पंचप्रयोजनान् ।
यो मोहान्न विगृह्णाति तमापद् ग्रसते नरम् ॥७१॥
अनसूयार्जवं शौचं सन्तोषः प्रियवादिता ।
दमः सत्यमनायासो न भवंति दुरात्मनाम् ॥७२॥
आत्मज्ञानमनायासस्तितिक्षा धर्मनित्यता ।
वाक् चैव गुप्ता दानं न नैतान्यंत्येषु भारत ॥७३॥

आक्रोशपरिवादाभ्यां विहिंसंत्यबुधा बुधान् ।
वक्ता पापमुपादत्ते क्षममाणो विमुच्यते ॥७४॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध यह पाच विषय हैं। इनकी ओर दौड़नेवाले अपने पांच इंद्रियरूपी शत्रुओं को जो मोह से नहीं रोक सकता है उस नर को आपदा ग्रस लेती है॥७१॥ दूसरों के गुणों में दोष न लगाना, कोमल स्वभाव होना, पवित्र रहना, सन्तोष और प्रिय बोलना, इन्द्रियों को रोकना, सत्य तथा स्थिरता ये गुण दुरात्माओं में नहीं होते हैं॥७२॥ हे भारत! आत्मज्ञान, स्थिरता, सहनशीलता,धर्मपरायणता,गुप्तभाषण और दान ये गुण नीचजनों में नहीं होते हैं॥७३॥ कठोर बोलना और निन्दा इन दोनों से मूर्खजन पण्डितों की हिंसा करते हैं। पर कठोर और निन्दा के वचन कहनेवाला ही पाप को ग्रहण करता है और सहनेवाला उस पाप से छूट जाता है॥७४॥

हिंसा बलमसाधूनां राज्ञां दण्डविधिर्बलम् ।
शुश्रूषा तु बलं स्त्रीणां क्षमा गुणवतां बलम् ॥७५॥
वाक्संयमो हि नृपते सुदुष्करतमो मतः ।
अर्थवच्च विचित्रं च न शक्यं बहुभाषितुम्॥७६॥
अभ्यावहति कल्याणं विविधं वाक् सुभाषिता ।
सैव दुर्भाषिता राजन्ननर्थायोपपद्यते ॥७७॥
रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम् ।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम् ॥७८॥

दुरात्माओं का बल हिंसा है, राजाओं का बल दण्डविधि है, स्त्रियों का बल शुश्रूषा है और गुणवानों का बल क्षमा है॥७५॥ हे नृपते! संसार में वाणी का पूर्ण संयम तो कठिन माना ही गया है परन्तु विशेष अर्थयुक्त और चमत्कारपूर्ण वाणी भी अधिक नहीं बोली जा सकती है॥७६॥ हे राजन्! मीठे शब्दो में कही हुई बात अनेक प्रकार से कल्याण करती है, किन्तु वही बात कटु शब्दों में कही जाने पर महान् अनर्थ का कारण बन जाती है॥७७॥ वाणों से विदीर्ण किया हुआ शरीर फिर भर आता है और कुल्हाड़ी से काटा हुआ वन फिर जम जाता है पर कठोर वाणी का भयंकर घाव फिर नहीं भरता है॥७८॥

कर्णिनालीकनाराचान्निर्हरन्ति शरीरतः ।
वाक्शल्यस्तु न निर्हर्तुं शक्यो हृदिशयो हि सः ॥७९॥
वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति यैराहतः शोचति रात्र्यहानि ।
परस्य नामर्मसु ते पतन्ति तान्पण्डितो नावसृजेत्परेभ्यः ॥८०॥
यस्मैः देवाः प्रयच्छंति पुरुषाय पराभवम् ।
बुद्धिं तस्यापकर्षंति सोऽवाचीनानि पश्यति॥८१॥

कर्णी और नालीक और नाराच संज्ञक लगे हुए बाणों को शरीर से निकाला जा सकता है परन्तु वाणीरूप बाण निकालना संभव नहीं है क्योंकि वाणीरूप बाण हृदय के भीतर धंस जाता है॥७९॥ वाणीरूप बाण मुख से इस प्रकार निकलते हैं, जिनसे घायल हुआ मनुष्य रात दिन शोच करता है और वे दूसरे के मर्मस्थलों के अतिरिक्त अन्य जगह नहीं गिरते हैं किन्तु मर्मस्थलों को ही चोट पहुंचाते हैं। इस कारण उन वाणीरूप बाणों को पंडितजन दूसरों के लिये न छोड़े॥८०॥ जिस पुरुष के लिये देवता पराजय देते हैं, उसकी बुद्धि को खींच लेते हैं। बुद्धि हर जाने पर वह नीच कर्मों को ही देखता है॥८१॥

बुद्धौ कलुषभूतायां विनाशे प्रत्युपस्थिते ।
अनयो नयसंकाशो हृदयान्नपसर्पति ॥८२॥
सेयं बुद्धिः परीता ते पुत्राणां भरतर्षभ ।
पाण्डवानां विरोधेन न चैनानवबुध्यसे ॥८३॥
राजा लक्षणसंपन्नस्त्रैलोक्यस्यापि यो भवेत् ।
शिष्यस्ते शासिता सोऽस्तु धृतराष्ट्र युधिष्ठिरः ॥८४॥
अतीव सर्वान्पुत्रांस्ते भागधेयपुरस्कृतः ।
तेजसा प्रज्ञया चैव युक्तो धर्मार्थतत्ववित् ॥८५॥
अनुक्रोशादानृशंस्याद्योऽसौ धर्मभृतां वरः ।
गौरवात्तव राजेन्द्र बहून्क्लेशांस्तितिक्षति ॥८६॥

इति श्रीमहांभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वाणि
विदुरनीतिवाक्ये चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥३४॥ [२]

विनाश के उपस्थित होने पर बुद्धि मलीन हो जाती है उस समय नीति के समान अनीति उसके हृदय से नहीं निकलती है॥८२॥ हे भरतश्रेष्ठ

आपके पुत्रों की वह बुद्धि पाण्डवों के विरोध से भर गयी है। इसको आप नहीं जान रहे हैं॥८३॥ जो राज्य लक्षणों से युक्त होता है वह ही तीनों लोकों का राजा हो सकता है। इस कारण हे धृतराष्ट्रजी! वह आपका आज्ञाकारी युधिष्ठिर ही पृथ्वी का शासक होने योग्य है॥८४॥ वह युधिष्ठिर आपके सभी पुत्रों से बढ़ चढ़ कर हैं क्योंकि वह तेज और बुद्धि से युक्त, धर्म और अर्थ के तत्त्व को जाननेवाला है॥८५॥ हे राजेन्द्र! धर्मधारियों में श्रेष्ठ युधिष्ठिर दया अक्रूरता तथा आपके प्रति गौरव बुद्धि के कारण बहुत से क्लेशों को सह रहे हैं॥८६॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये
श्रीपाठकवंशावतं-पंडितमङ्गलसेनात्मजकाशिरामविरचित
हिन्दीतिलके चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥३४॥ [२]

*****

तीसरा अध्याय

धृतराष्ट्र उवाच

ब्रूहि भूयो महाबुद्धे धर्मार्थसहितं वचः ।
शृण्वतो नास्ति मे तृप्तिर्विचित्राणीह भाषसे ॥१॥

विदुर उवाच

सर्वतीर्थेषु वा स्नानं सर्वभूतेषु चार्जवम् ।
उभे त्वेते समे स्यातामार्जवं वा विशिष्यते ॥२॥
आर्जवं प्रतिपद्यस्व पुत्रेषु सततं विभो ।
इह कीर्तिं परां प्राप्य प्रेत्य स्वर्गमवाप्स्यसि ॥३॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे महाबुद्धे! तुम फिर धर्म और अर्थ युक्त बातें कहो, तुम्हारी बातें सुनते सुनते मेरी तृप्ति नहीं हो रही है, क्योंकि तुम इस बारे में विचित्र वचन कह रहे हो॥१॥ तब विदुरजी राजा धृतराष्ट्र से कहने लगे—हे राजन्! समस्त तीर्थों में स्नान करना और समस्त प्राणियों के साथ कोमलता का व्यवहार रखना ये दोनों समान हैं।

अपितु तीर्थों के स्नान से समस्त प्राणियों में कोमलता रखना ही श्रे
है।।२।। इसलिये हे विभो! अपने पुत्रों और पांडवों में सदा ही एक
कोमलता का व्यवहार रखिये। समता रखने से इस लोक में परमकी
प्राप्त कर मरने पर स्वर्ग पावोगे।।३।।

यावत्कीर्तिर्मनुष्यस्य पुण्या लोके प्रगीयते ।
तावत्स पुरुषव्याघ्र स्वर्गलोके महीयते ।।४।।
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
विरोचनस्य संवादं केशिन्यर्थे सुधन्वना ।।५।।
स्वयंवरे स्थिता कन्या केशिनी नाम नामतः ।
रूपेणाप्रतिमा राजन् विशिष्टपतिकाम्यया ।।६।।
विरोचनोऽथ दैतेयस्तदा तत्राजगाम ह ।
प्राप्तुमिच्छंस्ततस्तत्र दैत्येन्द्रं प्राह केशिनी ।।७।।

हे पुरुषव्याघ्र! जब तक संसार में मनुष्य की पवित्र कीर्त्ति गान
जाती है तब तक वह स्वर्गलोग में विराजमान रहता है।।४।। य
पूर्वाचार्य एक पुराना इतिहास कहते हैं जिसमें केशिनी के लिये सुध
के साथ विरोचन का संवाद है।।५।। हे राजन्! श्रेष्ठ पति के पाने
इच्छा से एक केशिनी नाम कन्या स्वयंवर में स्थित थी। वह क
अद्वितीय सुन्दरी थी।।६।। उस समय उस स्वयंवर में केशिनी को प्रा
करने की इच्छा से दैतेय विरोचन आया। उस स्वयंवर में केशिनी
विरोचन नाम दैत्यराज से कहा।।७।।

केशिन्युवाच

किं ब्राह्मणाः स्विच्छ्रेयांसो दितिजाः स्विद्विरोचन।
अथ केन स्म पर्यङ्कं सुधन्वा नाधिरोहति ।।८।।

विरोचन उवाच

प्राजापत्यास्तु वै श्रेष्ठा वयं केशिनि सत्तमाः ।
अस्माकं खल्विमे लोकाः के देवाः के द्विजातयः ।।९।।

केशिन्युवाच

इहैवावां प्रतीक्षाव उपस्थाने विरोचन ।
सुधन्वा प्रातरागन्ता पश्येयं वां समागतौ ।।१०।।

हे विरोचन! ब्राह्मण श्रेष्ठ होते हैं अथवा दैत्य? क्या सुधन्वा ब्राह्मण हमारे पर्यङ्क पर नहीं चढ़ सकता है? अगर वह श्रेष्ठ हो तो मैं उससे विवाह क्यों न करूं।।८।। तब विरोचन बोला–हे केशिनी! हम प्रजापति की सन्तान अतीव श्रेष्ठ हैं और यह सारा संसार हमारा ही है। देवता और ब्राह्मण कौन होते हैं।।९।। तब केशिनी बोली–हे विरोचन! यहां मेरे समीप सुधन्वा के आगमन की हम तुम दोनों प्रतीक्षा करते हैं। सुधन्वा प्रातःकाल आवेगा, तब मैं तुम दोनों को देखूंगी।।१०।।

विरोचन उवाच

तथा भद्रे करिष्यामि यथा त्वं भीरु भाषसे ।
सुधन्वानं च मां चैव प्रातर्द्रष्टासि सङ्गतौ ।।११।।

विदुर उवाच

अतीतायां च शर्वर्यामुदिते सूर्यमण्डले ।
अथाजगाम तं देशं सुधन्वा राजसत्तम ।
विरोचनो यत्र विभो केशिन्या सहितः स्थितः ।।१२।।
सुधन्वा च समागच्छत्प्राह्लादिं केशिनीं तथा ।
समागतं द्विजं दृष्ट्वा केशिनी भरतर्षभ ।
प्रत्युत्थायासनं तस्मै पाद्यमर्घ्यं ददौ पुनः ।।१३।।

तब विरोचन बोला–हे भद्रे! मैं उसी प्रकार करूंगा जैसा कि हे भीरु! तुम मुझसे कहती हो। सुधन्वा और मुझे दोनों को इकट्ठा तुम प्रातःकाल देखोगी।।११।। विदुरजी राजा धृतराष्ट्र से बोले–हे राजाओं में श्रेष्ठ! रात्रि व्यतीत हो जाने पर सूर्यमण्डल के उदित होने पर सुधन्वा उस स्थान पर आया जहां कि हे विभो! केशिनीसहित विरोचन उपस्थित था।।१२।। वह सुधन्वा ब्राह्मण प्रह्लाद के पुत्र विरोचन और केशिनी के पास आया। हे भरतश्रेष्ठ! तब आये हुए उस ब्राह्मण को देखकर केशिनी खड़ी हुई और उस ब्राह्मण के लिये आसन, पाद्य और अर्घ्य प्रस्तुत किया।।१३।।

सुधन्वोवाच

अन्वालभे हिरण्मयं प्राह्लादे ते वरासनम् ।
एकत्वमुपसम्पन्नौ न त्वासेऽहं त्वया सह ।।१४।।

विरोचन उवाच

तवार्हते तु फलकं कूर्चं वाप्ययवा बृसी ।
सुधन्वन्न त्वमर्होऽसि मया सह समासनम् ॥१५॥

सुधन्वोवाच

पितापुत्रौ सहासीतां द्वौ विप्रौ क्षत्त्रियावपि ।
वृद्धौ वैश्यौ च शूद्रौ च न त्वन्यावितरेतरम् ॥१६॥

उस समय सुधन्वा समीप में बैठे हुए विरोचन से बोले—हे प्रह्लाद पुत्र! तुम्हारे सुवर्णमय श्रेष्ठ आसन को हम केवल चरणों से स्पर्श कर सकते हैं, तुम्हारे साथ बैठ नहीं सकते हैं, कारण कि ऐसा करने हम दोनों समान गिने जायेंगे॥१४॥ तब यह सुनकर विरोचन सुधन से बोला—हे सुधन्वन्! काठ का पीढ़ा, कूर्च वा कुश का आसन तुम्हा योग्य हो सकता है, तुम हमारे साथ बराबर बैठने के योग्य न हो॥१५॥ तब सुधन्वा बोले—हे विरोचन! पिता पुत्र मिलकर ए जगह बैठ सकते हैं, दो ब्राह्मण, दो क्षत्रिय, दो वृद्ध, दो वैश्य और दो शू भी मिलकर एक जगह बैठ सकते हैं, परन्तु अन्तर्जातीय दो परस्पर न बैठ सकते हैं॥१६॥

पिता हि ते समासीनमुपासीतैव मामधः ।
बालः सुखैधितो गेहे न त्वं किंचन बुद्ध्यसे ॥१७॥

विरोचन उवाच

हिरण्यं च गवाश्वं च यद्वित्तमसुरेषु नः ।
सुधन्वन्विपणे तेन प्रश्नं पृच्छाव ये विदुः ॥१८॥

सुधन्वोवाच

हिरण्यं च गवाश्वं च तवैवास्तु विरोचन ।
प्राणयोस्तु पणं कृत्वा प्रश्नं पृच्छाव ये विदुः ॥१९॥

आसन पर बैठे हुए मेरी तुम्हारे पिता प्रह्लादजी नीचे बैठकर से किया करते हैं, तुम बालक हो, घर में सुखपूर्वक बढ़े हो, अभी सत् अस कुछ भी नहीं जानते हो॥१७॥ तब सुधन्वा से विरोचन बोला— सुधन्वन्! सुवर्ण, गौ, घोड़ा और जो भी धन हम दैत्यों के पास उसको हारने की बाजी लगाकर हम तुम उनसे प्रश्न पूछें, जो कि हमा

म्हारे विवाद को जानते हैं॥१८॥ तब सुधन्वा बोला–हे विरोचन! वर्ण, गौ और घोड़ा सब तुम्हारा ही रहे, हम तुम दोनों प्राणों के रने की बाजी लगाकर उनसे प्रश्न पूछेंगे जो कि हमारे तुम्हारे विवाद ो जानते हैं॥१९॥

विरोचन उवाच

आवां कुत्र गमिष्यावः प्राणयोर्विपणे कृते ।
न तु देवेष्वहं स्थाता न मनुष्येषु कर्हिचित् ॥२०॥

सुधन्वोवाच

पितरं ते गमिष्यावः प्राणयोर्विपणे कृते ।
पुत्रस्यापि स हेतोर्हि प्रह्लादो नानृतं वदेत् ॥२१॥

विदुर उवाच

एवं कृतपणौ क्रुद्धौ तत्राभिजग्मतुस्तदा ।
विरोचनसुधन्वानौ प्रह्लादो यत्र तिष्ठति ॥२२॥

ब विरोचन बोला–प्राणों की बाजी लगाकर हम तुम दोनों प्रश्न पूछने ी कहां चलेंगे, मैं देवता और मनुष्यों से कदाचित् भी निर्णय नहीं राऊँगा॥२०॥ तब सुधन्वा बोला–हे विरोचन! प्राणों की बाजी गाकर हम तुम दोनों तुम्हारे पिता के पास चलेंगे, क्योंकि वह तुम्हारे ता प्रह्लादजी पुत्र के लिये भी झूठ नहीं कह सकते हैं॥२१॥ विदुरजी ोले कि इस प्रकार बाजी लगाकर क्रोधित हुए विरोचन और सुधन्वा सी समय वहां गये जहां कि प्रह्लादजी स्थित थे॥२२॥

प्रह्लाद उवाच

इमौ तौ संप्रदृश्येते याभ्यां न चरितं सह ।
आशीविषाविव क्रुद्धावेकमार्गाविहागतौ ॥२३॥
किं वै सहैवं चरथो न पुरा चरथः सह ।
विरोचनैतत् पृच्छामि किं ते सख्यं सुधन्वना ॥२४॥

विरोचन उवाच

न मे सुधन्वना सख्यं प्राणयोर्विपणावहे ।
प्रह्लाद तत्त्वं पृच्छामि मा प्रश्नमनृतं वदेः ॥२५॥

नको देख प्रह्लादजी बोले–दो सर्पों के समान क्रोधित हुए ये दोनों एक

ही मार्ग से चलकर आये हुए दीखते हैं, जो कभी भी एक एक ही मार्ग साथ न चले थे॥२३॥ तुम दोनों इस प्रकार कैसे विचरते हो, तुम दो तो एक साथ मिलकर पहिले कभी नहीं विचरे थे, हे विरोचन! तु मैं यह पूछता हूं कि क्या तुम्हारी सुधन्वा के साथ मित्रता है?॥२ तब विरोचन कहने लगा–मेरी सुधन्वा के साथ कुछ भी मित्रता नहीं हम दोनों प्राणों की बाजी लगाकर आये हैं, हे पिताजी! मैं आपसे बात पूछता हूं, मेरे प्रश्न का झूंठा उत्तर न दीजियेगा॥२५॥

प्रह्लाद उवाच

उदकं मधुपर्कं वाप्यानयन्तु सुधन्वने ।
ब्रह्मन्नभ्यर्चनीयोऽसि श्वेता गौः पीवरी कृता ॥२६॥

सुधन्वोवाच

उदकं मधुपर्कं च पथिष्वेवार्पितं मम ।
प्रहलाद त्वं तु मे तथ्यं प्रश्नं प्रब्रूहि पृच्छतः ।
किं ब्राह्मणाः स्विच्छ्रेयांस उताहोस्विद्विरोचनः ॥२७॥

प्रह्लाद उवाच

पुत्र एको मम ब्रह्मंस्त्वं च साक्षादिहास्थितः ।
तयोर्विवदतोः प्रश्नं कथमस्मद्विधो वदेत् ॥२८॥

तब प्रह्लादजी बोले–सेवको! सुधन्वा के लिये जल और मधुपर्क ला हे ब्रह्मन्! आप हमारे पूजनीय हो, मैंने आपके ही लिये श्वेत गौ की है॥२६॥ तब सुधन्वा बोले–जल और मधुपर्क तो मुझे मार्ग में मिल गया है, हे प्रह्लाद! अब मुझ पूछनेवाले के प्रश्न का सही उत्तर दीजिये कि क्या ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं अथवा विरोचन?॥२७॥ प्रह्लादजी बोले–हे ब्राह्मण! मेरा एक ही पुत्र है और तुम साक्षात् उपस्थित हो, फिर कहिये झगड़ने वाले तुम दोनों के प्रश्न की मेरे जन कैसे उत्तर दे सकता है ॥२८॥

सुधन्वोवाच

गां प्रदद्यास्त्वौरसाय यद्वान्यत्स्यात्प्रियं धनम् ।
द्वयोर्विवदतोस्तथ्यं वाच्यं च मतिमंस्त्वया ॥२९॥

प्रह्लाद उवाच

अथ यो नैव प्रब्रूयात् सत्यं वा यदि वानृतम् ।
एतत्सुधन्वन्पृच्छामि दुर्विवक्ता स्म किं वसेत् ॥३०॥

सुधन्वोवाच

यां रात्रिमधिविन्ना स्त्री यां चैवाक्षपराजितः ।
यां च भाराभितप्ताङ्गो दुर्विवक्ता स्म तां वसेत् ॥३१॥

तब सुधन्वा प्रह्लादजी से बोले हे श्रेष्ठबुद्धिवाले! गौ और जो अन्य प्रियधन हो वह अपने पुत्र को दीजिये, इस समय तो झगड़ने वाले हम दोनों के प्रश्न का ठीक ठीक उत्तर आपको देना ही चाहिये ॥२९॥ तब प्रह्लादजी बोले हे सुधन्वन्! मैं तुमसे यह पूछता हूँ कि जो पूछनेवालों से सत्य अथवा झूंठ कुछ भी न कहे, वह अन्यायवक्ता किस दुःख को प्राप्त होता है॥३०॥ तब सुधन्वा बोले सौत के साथ पति के गृह में रहनेवाली स्त्री, जुए में हारे हुए जुआरी, बोझ से थके हुये अंगों वाले मनुष्य की जो स्थिति रात में होती में है, वही स्थिति उलटा न्याय देने वाले की भी होती है ॥३१॥

नगरे प्रतिरुद्धः सन् बहिर्द्वारि बुभुक्षितः ।
अमित्रान्भूयसः पश्येद्यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥३२॥
पंच पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते ।
शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥३३॥

जो झूठा निर्णय देता है, वह नगर में क्षुधार्थ होकर रुका हुआ दरवाजे के बाहर बहुत से शत्रुओं को देखता है॥३२॥ पशु के लिये झूठ बोलने वाला पांच पीढ़ियों को, गौ के लिये दस पीढ़ियों को, घोड़े के लिये सौ और मनुष्य के लिये झूठ बोलने वाला हजार पीढ़ियों को नरक में ढकेलता है॥३३॥

हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृत वदन् ।
सर्वं भूम्यनृते हन्ति मा स्म भूम्यनृत वदेः ॥३४॥

प्रह्लाद उवाच

मत्तः श्रेयानङ्गिरा वै सुधन्वा त्वद्विरोचन ।
मातास्य श्रेयसी मातुस्तस्मात्वं तेन वै जितः ॥३५॥

विरोचन सुधन्वायं प्राणीनामीश्वरस्तव ।
सुधन्वन्पुनरिच्छामि त्वया दत्तं विरोचनम् ॥३६॥

सुधन्वोवाच

यद्धर्ममवृणीथास्त्वं न कामादनृतं वदीः ।
पुनर्ददामि ते पुत्रं तस्मात्प्रह्लाद दुर्लभम् ॥३७॥

सुवर्ण के लिये झूठ बोलने वाला भूत तथा भविष्य सभी पीढ़ियों
नरक में गिराता है। पृथ्वी तथा स्त्री के लिये झूठ बोलने वाला अप
सर्वनाश ही कर लेता है, अतः आप भूमि अथवा स्त्री के लिये कभी
न बोलें॥३४॥ तब प्रह्लादजी बोले–हे विरोचन! मुझसे तो श्रे
सुधन्वा के पिता अंगिरा हैं, तुमसे श्रेष्ठ सुधन्वा है और इनकी मा
तुम्हारी माता से श्रेष्ठ है, अतः तुम आज सुधन्वा से हार गये॥३५॥
विरोचन! अब यह सुधन्वा तुम्हारे प्राणों के स्वामी है, चाहे छोड़े, च
न छोड़े, इतना विरोचन से कह सुधन्वा से प्रह्लादजी प्रार्थना करने ल
हे सुधन्वन्! तुम्हारे द्वारा अर्पण किये हुए विरोचन को फिरं मैं ले
चाहता हूँ॥३६॥ उस समय सुधन्वा प्रह्लादजी से बोले हे प्रह्ला
तुमने धर्म को ही स्वीकारा है, स्वार्थवश झूठ नहीं कहा, अतः मैं तु
फिर इस दुर्लभ पुत्र को दे रहा हूँ॥३७॥

एष प्रह्लाद पुत्रस्ते मया दत्तो विरोचनः ।
पादप्रक्षालनं कुर्यात्कुमार्याः सन्निधौ मम ॥३८॥

विदुर उवाच

तस्माद्राजेन्द्र भूम्यर्थे नानृतं वक्तुमर्हसि ।
मा गमः ससुतामात्यो नाशं पुत्रार्थमब्रुवन् ॥३९॥
न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत् ।
यन्तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्धया संयोजयन्ति तम् ॥४०॥

हे प्रह्लाद! तुम्हारे इस पुत्र विरोचन को मैंने तुम्हें वापस दे दिया
किन्तु इसको कुमारी केशिनी के पास मेरे पैर धोने चाहिये॥३८
विदुरजी राजा धृतराष्ट्र से बोले इसलिये हे राजेन्द्र! पृथ्वी के लि
आप झूठ न बोलें, पुत्रों के लिये सत्य न कहते हुए आप पुत्र मंत्रि
सहित नाश को मत प्राप्त होवो॥३९॥ जिस प्रकार कि दण्ड लेक

पशुपाल पशुओं की रक्षा करते हैं उस प्रकार देवता दंड लेकर मनुष्यों की रक्षा नहीं करते हैं, किन्तु जिसकी रक्षा करना चाहते हैं उसको उत्तम बुद्धि देते हैं।।४०।।

यथा यथा हि पुरुषः कल्याणे कुरुते मनः ।
तथा तथास्य सर्वार्थाः सिध्यन्ते नात्र संशयः ।।४१।।
नैनं छन्दांसि वृजिनात्तारयन्ति मायाविनं मायया वर्तमानम् ।
नीडं शकुंता इव जातपक्षाश्छन्दांस्येनं प्रजहत्यन्तकाले ।।४२।।
मद्यपानं कलहं पूगवैरं भार्यापत्योरन्तरं ज्ञातिभेदम् ।
राजद्विष्टं स्त्रीपुंसयोर्विवादं वर्ज्यान्याहुर्यश्च पन्थाः प्रदुष्टः ।।४३।।

इस कारण जिस जिस प्रकार पुरुष कल्याण में मन करता है उसी उसी प्रकार उसके समस्त अर्थ सिद्ध होते हैं इसमें संशय नहीं है।।४१।। कपटपूर्ण व्यवहार करने वाले मायावीजन को वेद पापों से मुक्त नहीं कर सकते हैं किन्तु उसको अन्तकाल में त्याग देते हैं, जिस प्रकार पंख निकल आने पर पक्षी घोंसले को त्याग देते हैं।।४२।। मदिरा का पान, कलह (लड़ाई), समूह से वैरभाव, पति पत्नी में भेद पैदा करना, जाति से पृथक् होना, राजा से वैर, स्त्री पुरुष का विवाद और बुरे रास्ते ये सब त्यागने योग्य है, ऐसा पूर्वाचार्य्य कहते हैं।।४३।।

सामुद्रिकं वणिजं चोरपूर्वं शलाकधूर्तं च चिकित्सकं च ।
अरिं च मित्रं च कुशीलवं च नैतान्साक्ष्ये त्वधिकुर्वीत सप्त ।।४४।।
मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं मानेनाधीतमुत मानयज्ञः ।
एतानि चत्वार्यभयंकराणि भयं प्रयच्छंत्ययथाकृतानि ।।४५।।

हस्तरेखादि को परीक्षा, करने वाला चोरी करके व्यापार करने वाला, जुआरी, वैद्य, शत्रु, मित्र और नर्तक इन सातों को कदाचित् भी गवाही में नहीं नियुक्त करे।।४४।। अग्निहोम, मौन का पालन, स्वाध्याय और यज्ञ का अनुष्ठान ये चारों कर्म आदर पूर्वक किये जाने पर भय को दूर करने वाले है, किन्तु ठीक तरह से सम्पादित न होने पर भय प्रदान करने वाले होते हैं।।४५।।

अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी ।
पर्वकारश्च सूची च मित्रध्रुक्पारदारिकः ।।४६।।

भ्रूणहा गुरुतल्पी च यश्च स्यात्पानपो द्विजः ।
अतितीक्ष्णश्च काकश्च नास्तिको वेदनिन्दकः ॥४७॥
स्रुवप्रग्रहणो व्रात्यः कीनाशश्चात्मवानपि ।
रक्षेत्युक्तश्च यो हिंस्यात्सर्वे ब्रह्महभिः समाः ॥४८॥

घर में आग लगानेवाला, विष देनेवाला, जारज संतान से जीवि चलानेवाला, सोमरस बेचनेवाला, अस्त्र बनानेवाला, चुगल, मित्र वैर करनेवाला, पर स्त्री लम्पट, गुरुस्त्री गामी, अधिक तीखे स्वभ वाला, मदिरा पीनेवाला ब्राह्मण, वेद की निन्दा करने वाला, घूसखं पतित, क्रूर,और'रक्षा कीजिये' इस प्रकार प्राणियों द्वारा प्रार्थना क पर भी जो समर्थ होकर उन प्राणियों की हिंसा करे, ये समस्त ब्रह्मह करने वालों के समान होते हैं।।४६।।४७।।४८।।

तृणोल्कया ज्ञायते जातरूपं वृत्तेन भद्रो व्यवहारेण साधुः
शूरो भयेष्वर्थकृच्छ्रेषु धीरः कृच्छ्रेष्वापत्सु सुहृदश्चारयश्च ॥४
जरा रूपं हरति हि धैर्यमाशा मृत्युः प्राणान्धर्मचर्यामसूया
क्रोधः श्रियं शीलमनार्यसेवा ह्रियं कामः सर्वमेवाभिमानः ॥५

तृण की अङ्गार से सुवर्ण पहचाना जाता है, आचार से धर्म पहचा जाता है, व्यवहार से साधु जन पहचाना जाता है, भय होने पर शूरवं पहचाना जाता है, धन के कष्ट में धीर पहचाना जाता है और व और आपदाओं में मित्र तथा शत्रु पहचाने जाते हैं।।४९।। वृद्धावस्थ रूपको, आशा धीरजको, मृत्यु प्राणोंको, असूया (निन्दा) धर्मचर्य्या क्रोध लक्ष्मी को, नीच पुरुषों की सेवा शील को, काम लज्जा को अभिमान सर्वस्व हर लेता है।।५०।।

श्रीर्मङ्गलात्प्रभवति प्रागल्भ्यात्संप्रवर्धते ।
दाक्ष्यात्तु कुरुते मूलं संयमात्प्रतितिष्ठति ॥५१॥

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥५
एतान्गुणांस्तात महानुभावानेको गुणः संश्रयते प्रसह्य
राजा यदा सत्कुरुते मनुष्यं सर्वान् गुणानेष गुणो विभाति ॥५

लक्ष्मी शुभकर्म से उत्पन्न होती हैं, प्रगल्भता से बढ़ती है, चतुरता

अपनी जड़ जमा लेती है और संयम से सुरक्षित रहती है।।५१।। आठ गुण पुरुष को प्रकाशमान करते हैं कुलीनता, इन्द्रियों का दमन करना, शास्त्राभ्यास, पराक्रम, बहुत बोलना, यथाशक्ति दान और दूसरे के उपकार को जानना।।५२।। हे तात! इन बड़े प्रभाव वाले आठों गुणों पर एक ही गुण बलपूर्वक अधिकार जमा लेता है और वह गुण हैं "राज सम्मान"। यह एक ही गुण सभी गुणों से बढ़कर है।।५३।।

अष्टौ नृपेमानि मनुष्यलोके स्वर्गस्य लोकस्य निदर्शनानि ।
चत्वार्येषामन्ववेतानि सद्भिश्चत्वारि चैषामनुयान्ति सन्ति ।।५४।।
यज्ञो दानमध्ययनं तपश्च चत्वार्येतान्यन्ववेतानि सद्भिः ।
दमः सत्यमार्जवमानृशंस्यं चत्वार्येतान्यनुयान्ति सन्तः ।।५५।।
इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा घृणा ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ।।५६।।

हे नृप! ये आगे कहे जाने वाले आठ गुण मनुष्यलोक में स्वर्गलोक का दर्शन कराने वाले हैं, इनमें चार तो सज्जनों के साथ सदैव सम्बद्ध रहते हैं और इनमें चार ऐसे हैं कि जिनके पीछे सज्जन चलते हैं।।५४।। यज्ञ, दान, अध्ययन और तप ये चार ऐसे हैं कि जो सज्जनों से सदैव सम्बद्ध रहते हैं। दम अर्थात् इन्द्रियों का दमन करना, सत्य, आर्जव अर्थात् विषम भाव न होना और आनृशंस्य अर्थात् अक्रूरता ये चार ऐसे हैं कि जिनके पीछे स्वयं सज्जन चलते हैं।।५५।। यज्ञ करना, पढ़ना, दान देना, तपस्या करना, सत्य, सहनशील होना, दया और लोभ का न होना धर्म का आठ प्रकार का यह मार्ग पूर्वाचार्य्यों ने कहा है।।५६।।

तत्र पूर्वचतुर्वर्गो दंभार्थमपि सेव्यते ।
उत्तरश्च चतुर्वर्गो नामहात्मसु तिष्ठति ।।५७।।
न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम् ।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत्सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम् ।।५८।।
सत्यं रूपं श्रुतं विद्या कौल्यं शीलं बलं धनम् ।
शौर्यं च चित्रभाष्यं च दशेमे स्वर्गयोनयः ।।५९।।

इस आठ प्रकार के धर्म के मार्ग में पूर्व के इज्या, अध्ययन, दान, और तप इन चारों का पाखण्ड के लिये भी सेवन किया जाता है परन्तु सत्य,

क्षमा, दया और अलोभ ये चार दुरात्माओं के साथ रह ही न सकते किन्तु सज्जनों के ही साथ रहते हैं॥५७॥ वह सभा नहीं जिसमें बड़े बूढ़े न बैठे हों, जो धर्म की बात न करें वे बड़े नहीं, जिसमें सत्य नहीं वह धर्म नहीं और जो कपट से पूर्ण हो, सत्य नहीं॥५८॥ सत्य, रूप, शास्त्राभ्यास, विद्या, कुलीनता, शील, धन, शूरता, और चमत्कारपूर्ण बात कहना ये दस स्वर्ग के सा हैं॥५९॥

पापं कुर्वन्पापकीर्तिः पापेवाश्नुते फलम् ।
पुण्यं कुर्वन्पुण्यकीर्तिः पुण्यमत्यंतमश्नुते ॥६०॥
तस्मात्पापं न कुर्वीत पुरुषः शंसितव्रतः ।
पापं प्रज्ञां नाशयति क्रियमाणं पुनः पुनः ॥६१
नष्टप्रज्ञः पापमेव नित्यमारभते नरः ।
पुण्यं प्रज्ञां वर्धयति क्रियमाणं पुनःपुनः ॥६२॥
वृद्धप्रज्ञः पुण्यमेव नित्यमारभते नरः ।
पुण्यं कुर्वन्पुण्यकीर्तिः पुण्यस्थानं स्म गच्छति ।
तस्मात्पुण्यं निषेवेत पुरुषः सुसमाहितः ॥६३॥

पाप करता हुआ पुरुष पापकीर्ति होकर पाप फल को ही भोगता है पुण्य करता हुआ पुरुष पुण्यकीर्ति होकर अत्यन्त पुण्यफल को भोगत ॥६०॥ इसलिये प्रशंसा किये हुए व्रतवाला होकर पुरुष पाप कदाचित् भी न करे क्योंकि वारंवार किया हुआ पाप बुद्धि का नाश देता है॥६१॥ जिसकी कि बुद्धि नष्ट हो जाती है वह नर सदा ही का आरम्भ करता रहता है और बारंबार किया हुआ पुण्य बुद्धि बढ़ाता है॥६२॥ जिसकी बुद्धि बढ़ जाती है वह पुरुष सदा ही पुण्य आरम्भ करता है, पुण्य करता हुआ पुण्यकीर्ति होकर पुण्य स्थान जाता है इसलिये पुरुष सावधान होकर पुण्य का ही करे॥६३॥

असूयको दन्दशूको निष्ठुरो वैरकृच्छठः ।
स कृच्छ्रं महदाप्नोति न चिरात्पापमाचरन् ॥६४॥

अनसूयुः कृतप्रज्ञः शोभनान्याचरन्सदा ।
न कृच्छ्रं महदाप्नोति सर्वत्र च विरोचते ॥६५॥
प्रज्ञामेवागमयति यः प्राज्ञेभ्यः स पण्डितः ।
प्राज्ञो ह्यवाप्य धर्मार्थौ शक्नोति सुखमेधितुम् ॥६६॥

ो दूसरों के गुणों में दोषारोपण करता है, दूसरों के मर्म स्थलों का ेदन करता है, अप्रिय बोलता है, वैर करने वाला और शठ है वह पाप ा सेवन करनेवाला थोड़े ही काल में शीघ्र ही महत् कष्ट को प्राप्त ोता है॥६४॥ जो दूसरों की निन्दा नहीं करता है और समस्त कार्यों में जिसने यथोचित् बुद्धि की है वह सदा ही शुभकर्म करता हुआ महत् ष्ट को नही प्राप्त होता है और सब जगह प्रकाशित रहता है॥६५॥ ो पंडितजनों से बुद्धि को प्राप्त करता है वह पंडित है और जो पंडित वह धर्म और अर्थ को प्राप्त होकर सुख बढ़ाने में समर्थ है॥६६॥

दिवसेनैव तत्कुर्याद्येन रात्रौ सुखं वसेत् ।
अष्टमासेन तत्कुर्याद्येन वर्षाः सुखं वसेत् ॥६७॥
पूर्वे वयसि तत्कुर्याद्येन वृद्धः सुखं वसेत् ।
यावज्जीवेन तत्कुर्याद्येन प्रेत्य सुखं वसेत् ॥६८॥
जीर्णमन्नं प्रशंसन्ति भार्यां च गतयौवनाम् ।
शूरं विजितसंग्रामं गतपारं तपस्विनम् ॥६९॥
धनेनाधर्मलब्धेन यच्छिद्रमभिधीयते ।
असंवृतं तद्भवति ततोऽन्यदवदीर्यते ॥७०॥

दिवस भर में वह कार्य करे जिससे रात्रि में सुखपूर्वक रह सके और आठ हीने भर में वह कार्य करे जिससे वर्षा के चार महीने सुखपूर्वक रह के॥६७॥ पूर्व अवस्था में वह कार्य करे जिससे वृद्ध होकर सुखपूर्वक ह सके और जीवनपर्यन्त वह कर्म करे जिससे मरकर परलोक में खपूर्वक रह सके॥६८॥ सज्जन पुरुष पच जाने पर अन्न की, निष्कलंक वानी बीत जाने पर स्त्री की, संग्राम जीत लेने पर शूरवीर की और त्वज्ञान प्राप्तकर लेने पर तपस्वी की प्रशंसा करते हैं॥६९॥ अधर्म से प्त धन के द्वारा जो दोष छिपाया जाता है, वह छिपता नहीं, उससे न्न और नया दोष प्रकट हो जाता है॥७०॥

गुरुरात्मवतां शास्ता शास्ता राजा दुरात्मनाम् ।
अथ प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो यमः ॥७१॥
ऋषीणां च नदीनां च कुलानां च महात्मनाम् ।
प्रभावो नाधिगन्तव्यः स्त्रीणां दुश्चरितस्य च ॥७२॥
द्विजातिपूजाभिरतो दाता ज्ञातिषु चार्जवी ।
क्षत्रियः शीलभाग्राजंश्चिरं पालयते महीम् ॥७३॥
सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वंति पुरुषास्त्रयः ।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥७४॥

चित्त के जीतने वालों को शिक्षा करने वाला गुरु हैं, दुरात्माओं शिक्षा करने वाला राजा है और गुप्त पापवालों को दण्ड देने वाले के पुत्र यमराज हैं॥७१॥ ऋषियों का, नदियों का, महात्माजनो कुलों का और स्त्रियों के दुश्चरित का सामर्थ्य अनन्त होने से मूल जाना जाता॥७२॥ हे राजन्! द्विजातियों की पूजा में प्रीति वाला, दान करने वाला, और ज्ञातियों में विषमता न रखने वाला शीलवान् क्षत्रिय बहुत काल तक पृथ्वी का पालन करता है॥७ पृथ्वी के सुवर्णरूप फूलों को तीन पुरुष संचय कर लेते हैं, शूर विद्यावान, और सेवाधर्म को जानने वाला॥७४॥

बुद्धिश्रेष्ठानि कर्माणि बाहुमध्यानि भारत ।
तानि जङ्घाजघन्यानि भारप्रत्यवराणि च ॥७५॥
दुर्योधनेऽथ शकुनौ मूढे दुःशासने तथा ।
कर्णे चैश्वर्यमाधाय कथं त्वं भूतिमिच्छसि ॥७६॥
सर्वैर्गुणैरुपेतास्तु पाण्डवा भरतर्षभ ।
पितृवत्त्वयि वर्तन्ते तेषु वर्तस्व पुत्रवत् ॥७७॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुर-हितवाक्ये पंचत्रिंशोऽध्यायः ॥३५॥ [३]

संसार में कर्म चार प्रकार के हैं उनमें जो बुद्धि बल से किये जाते श्रेष्ठ है, जो बाहुबल से सिद्ध किये जाते हैं वे मध्यम हैं, जो कपटा

द्ध किये जाते हैं वे अधम हैं और जो भार ढ़ोने का कार्य है वह अति धम हैं।।७५।। दुर्योधन, शकुनि, मूढ़ दु:शासन और कर्ण इनके आधीन कर आप कैसे ऐश्वर्य चाहते हो।।७६।। हे भरत श्रेष्ठ! पांडव सर्वगुणों युक्त हैं और आपको पिता के समान मानते हैं आप भी उनको पुत्र के मान मानिये।।७७।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरहितवाक्ये
श्रीपाठकवंशावतंसपंडितमंगलसेनात्मजकाशिरामविरचित
भाषातिलके पंचत्रिंशोध्यायः।।३५।। [३]

*****

चौथा अध्याय

विदुर उवाच

अत्रैवोदाहारन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
आत्रेयस्य च संवादं साध्यानां चेति नः श्रुतम् ।।१।।
चरन्तं हंसरूपेण महर्षिं शंसितव्रतम् ।
साध्या देवा महाप्राज्ञं पर्यपृच्छन्त वै पुरा ।।२।।

साध्या ऊचुः

ध्या देवा वयमेते महर्षे दृष्ट्वा भवन्तं न शक्नुमोऽनुमातुम् ।
तेन धीरो बुद्धिमांस्त्वं मतो नः काव्यां वाचं वक्तुमर्हस्युदाराम् ।।३।।

दुरजी कहते हैं, हे राजन्! यहाँ एक पुरातन इतिहास को कहते हैं समें आत्रेय और साध्यों का संवाद है यह हमने सुना है।।१।। महंसरूप से विचरने वाले प्रशंसितव्रत बड़े पंडित ऐसे महर्षि से कभी हले साध्यदेवताओं ने पूछा।।२।। साध्य बोले हे महर्षे! हम सब लोग ध्य देवता है आपको केवल देखकर आपके विषय में अनुमान नहीं

कर सकते। हमें तो आप शास्त्रज्ञान से युक्त धीर और बुद्धिमान् वि
होते हो, इस कारण विद्वानों के योग्य उदारवाणी हम लोगों
सुनाने की कृपा करें।।३।।

हंस उवाच

एतत्कार्यममराः संसृतं मे धृतिः शमः सत्यधर्मानुवृत्तिः
ग्रन्थिं विनीय हृदयस्य सर्वं प्रियाप्रिये चात्मसमं नयीत ॥
आक्रुश्यमानो नाक्रोशेन्मन्युरेव तितिक्षतः ।
आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विंदति ।।५।।

हंस ने कहा, हे देवताओं! हमने सुन रखा है कि धैर्य धारण, मनो-नि
तथा सत्य धर्मों का पालन ही कर्तव्य है, इसके द्वारा पुरुष को चा
कि हृदय की सारी गाँठ खोलकर प्रिय और अप्रिय को अपने आत्म
समान समझे।।४।। किसी के द्वारा गाली दिये जाने पर भी किसी
गाली नहीं देवें। क्योंकि सहने वाले का क्रोध ही गाली देनेवालों
जला देता है और उसका पुण्य उस सहने वाले को मिल ज
है।।५।।

नाक्रोशी स्यान्नावमानी परस्य मित्रद्रोही नोत नीचोपसेवी
न चाभिमानी न च हीनवृत्तो रूक्षां वाचं रुषतीं वर्जयीत ॥
मर्माण्यस्थीनि हृदयं तथासून् रूक्षां वाचो निर्दहन्तीह पुंसाम्
तस्माद्वाचमुषतीं रूक्षरूपां धर्मारामो नित्यशो वर्जयीत ॥
अरुन्तुदं परुषं रूक्षवाचं वाक्कण्टकैर्वितुदन्तं मनुष्यान्
विद्यादलक्ष्मीकतमं जनानां मुखे निबद्धां निर्ऋतिं वै वहन्तम् ॥

दूसरे को न तो गाली दे और न दूसरे का अपमान करे मित्र से वैर
नीच पुरुषों की सेवा न करें, सदाचार से हीन एवं अभिमानी न
रूखी और कठोर वाणी को संभाषण करने में त्याग दे।।६।। रूखे क
वचन पुरुषों के मर्मस्थल, हड्डी और हृदय तथा प्राणों को भस्म
देते हैं। इसलिये दूसरे के जलाने वाले घोररूप रूखे वचनोंको धर्मा
सदा ही त्याग देवे।।७।। जो दूसरों के मर्मस्थलों को व्यथित करता
स्वभाव से अति कठोर है, जिसकी वाणी बोलने में रूखी है, और
वाणीरूप कांटों से मनुष्यों को व्यथित करता है उसको मनुष्य

बीच अतीव दरिद्र समझे। कैसा है वह कि, मुख में वन्धी हुई दरिद्रता अथवा मौन को धारण किये हुए हैं।।८।।

परश्चेदेनमभिविध्येत बाणैर्भृशं सुतीक्ष्णैरनलार्कदीप्तैः ।
स विध्यमानोऽप्यति दह्यमानो विद्यात्कविः सुकृतं मे दधाति ।।९।।
यदि सन्तं सेवते यद्यसन्तं तपस्विनं यदि वा स्तेनमेव ।
वासो यथा रङ्गवशं प्रयाति तथा स तेषां वशमभ्युपैति ।।१०।।

यदि दूसरा शत्रु अपने इस आत्मा को अतितीखे अग्नि सूर्य के समान प्रकाशमान वाणों से भी ताड़े तब भी वह ताड़ा हुआ और अग्नि से जलाया हुआ भी विद्वान् यह जाने कि यह हमारे पुण्य को ही पुष्ट करता है।।९।। यदि कोई सज्जन, असज्जन, तपस्वी अथवा चौर की सेवा करता है तो वह उन्ही के वश में हो जाता है। जिस प्रकार वस्त्र जिस रंग में रंगा जाय वैसा ही हो जाता है उसी प्रकार मनुष्य पर भी उन्हीं का रंग चढ़ जाता है जिनकी वह सेवा करता है।।१०।।

अतिवादं न प्रवदेन्न वादये द्योनाहतः प्रतिहन्यान्न घातयेत् ।
हन्तुं च यो नेच्छति पापकं वै तस्मै देवाः स्पृहन्त्यागताय ।।११।।
अव्याहृतं व्याहृताच्छ्रेय आहुः सत्यं वदेद्व्याहृतं तद्द्वितीयम् ।
प्रियं वदेद्व्याहृतं तत्तृतीयं धर्म्यं वदेद्व्याहृतं तच्चतुर्थम् ।।१२।।

दूसरों द्वारा कहने पर भी जो कठोर वचन स्वयं नहीं कहता है न दूसरों से वाद कराता है, दूसरों द्वारा ताड़ा हुआ भी न तो स्वयं मारता है और न दूसरों से मरवाता है, जो पाप करने वाले को भी मारना नहीं चाहता है उस अपने स्थान में आये हुए की देवता भी स्वयं पूजा करते हैं।।११।। बोलने से मौन रहना अच्छा, किन्तु सत्य बोलना मौन रहने से अच्छा है, यह वाणी की द्वितीय विशेषता है, सत्य भी यदि प्रिय बोला जाय तो तीसरी विशेषता है और वह भी यदि धर्म सम्मत हो तो यह वचन की चौथी विशेषता है।।१२।।

यादृशैः सन्निविशते यादृशांश्चोपसेवते ।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग्भवति पूरुषः ।।१३।।
यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते ।
निवर्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दुःखमण्वपि ।।१४।।

न जीयते नानु जिगीषतेन्यान्नवैरकृच्चाप्रतिघातकश्च ।
निन्दाप्रशंसासु समस्वभावो न शोचते हृष्यति नैव चायम् ॥१५॥

जैसे मनुष्यों के साथ बैठता उठता है, जैसों की सेवा करता है और जैसा होना चाहता है वह पुरुष वैसा ही हो जाता है॥१३॥ जहां जहां से निवृत्त हो जाता है वहां वहां से ही छूटता चला जाता है इसी प्रकार सब जगह से निवृत्त हो जाने से पुरुष थोड़ा भी दु:ख नहीं जानता है॥१४॥ न तो आप किसी से जीता जाता है न आप किसी के जीतने की इच्छा करता है। और न वैर करने वाला है न किसी को मारने वाला है, निन्दा तथा प्रशंसा दोनों में जिसका स्वभाव समान रहता है, न दु:ख होने पर सोच करता है और न सुख होने पर प्रसन्न होता है यह महात्माओं का स्वभाव है॥१५॥

भावमिच्छति सर्वस्य नाभावे कुरुते मनः ।
सत्यवादी मृदुर्दान्तो यः स उत्तमपुरुषः ॥१६॥
नानर्थकं सान्त्वयति प्रतिज्ञाय ददाति च ।
रन्ध्रं परस्य जानाति यः त मध्यमपूरुषः ॥१७॥
दुःशासनस्तूपहतोऽभिशस्तो नावर्तते मन्युवशात्कृतघ्नः ।
न कस्यचिन्मित्रमथो दुरात्मा कलाश्चैता अधर्मस्येह पुंसः ॥१८॥

जो सबका कल्याण चाहता है, किसी के अकल्याण में मन नहीं करता है, सत्य बोलता है और कोमल स्वभाव और इंद्रियजित् है वह उत्तम पुरुष है॥१६॥ जो झूठे आश्वासन नहीं देता, देने की प्रतिज्ञा करके दे ही डालता है, दूसरों के दोषों को जानता है वह मध्यम श्रेणी का पुरुष है॥१७॥ घोषयात्रादिकों में दु:शासन ताड़ा भी गया था और बांधा भी गया था परन्तु तब भी दुष्कर्म से निवृत्त नहीं होता है, क्रोध के वश वह कृतघ्न किये उपकार को भी स्मरण नहीं रखता है। उनकी बुराई ही करता रहता है। दुरात्माजन किसी का भी मित्र नहीं होता है, इस संसार में अधम पुरुष की यही पहचान है॥१८॥

न श्रद्दधाति कल्याणं परेभ्योऽप्यात्मशङ्कितः ।
निराकरोति मित्राणि यो वै सोऽधमपूरुषः ॥१९॥

उत्तमानेव सेवेत प्राप्तकाले तु मध्यमान् ॥
अधमांस्तु न सेवेत य इच्छेद् भूतिमात्मनः ॥२०॥

प्राप्नोति वै वित्तमसद्बलेन नित्योत्थानात्प्रज्ञया पौरुषेण ।
न त्वेव सम्यग्लभते प्रशंसां न वृत्तमाप्नोति महाकुलानाम् ॥२१॥

आत्मशंकित (स्वयं अपने आप पर भी शंका करनेवाला) दूसरों से भी कल्याण होने का विश्वास नहीं करता और मित्रजनों को दूर कर देता है वह अधम पुरुष है॥१९॥ अपना कल्याण चाहने वाले को सदा उत्तम पुरुषों की ही सेवा करनी चाहिये, समय की आवश्यकतानुसार मध्यम पुरुषों की भी सेवा कर ले, परन्तु अधम पुरुषों की सेवा कदापि न करे॥२०॥ असज्जन बल से, नित्य के उद्यम से, बुद्धि से और पुरुषार्थ से धन तो पा सकता है परन्तु प्रशंसा भली प्रकार नहीं पा सकता है और न महत्कुल में उत्पन्न हुए सज्जनों के आचार को पा सकता है॥२१॥

धृतराष्ट्र उवाच

महाकुलेभ्यः स्पृहयन्ति देवा धर्मार्थनित्याश्च बहुश्रुताश्च ।
पृच्छामि त्वां विदुर प्रश्नमेतं भवन्ति वै कानि महाकुलानि ॥२२॥

विदुर उवाच

तपो दमो ब्रह्म वित्तं वितानाः पुण्या विवाहाः सततान्नदानम् ।
येष्वेवैते सप्त गुणा वसन्ति सम्यग्वृत्तास्तानि महाकुलानि ॥२३॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे विदुरजी! धर्म और अर्थ के नित्य ज्ञाता एवं बहुशास्त्रसम्पन्न हुए देवता भी जिन महाकुलों की पूजा करते हैं, वे माहकुल कौन हैं? तुमसे मैं यह प्रश्न पूछता हूँ॥२२॥ तब विदुरजी बोले! तप (समाधि में स्थित रहना) दम (इंद्रियों का वश करना) ब्रह्म वित्त (वेदाध्ययनाध्यापनादि) वितान (यज्ञकर्म) श्रेष्ठ विवाह, निरन्तर अन्नदान और सदाचार ये सात गुण जिनमें भली प्रकार स्थित हुए रहते हैं वे महाकुल हैं॥२३॥

येषां न वृत्तं व्यथते न योनिश्चित्तप्रसादेन चरन्ति धर्मम् ।
ये कीर्तिमिच्छन्ति कुले विशिष्टांत्यक्तानृतास्तानि महाकुलानि ॥२४॥

अनिज्यया कुविवाहैर्वेदस्योत्सादनेन च ।
कुलान्यकुलतां यान्ति धर्मस्यातिक्रमेण च ॥२५॥

देवद्रव्यविनाशेन ब्रह्मस्वहरणेन च ।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥२६॥

जिनका आचार शिथिल नहीं होता है और न जिनके उत्पन्न करनेवाले पित्रादिक जिनसे व्यथा को प्राप्त होते हैं। जो सदा ही चित्त की प्रसन्नता से धर्माचरण करते हैं, जो कुल में विशेषकीर्ति की इच्छा करते हैं और जिन्होंने झूंठ त्याग दिया है वे महाकुल हैं॥२४॥ यज्ञ के न करने से निन्दित विवाहों से, वेद के तिरस्कार करने से और धर्म के उल्लंघन से कुल अकुलता को प्राप्त हो जाते हैं॥२५॥ देवताओंके धन का नाश, ब्राह्मणों के धन का अपहरण और ब्राह्मणों की मर्यादा का उल्लंघन करने से उत्तम भी अधम हो जाते हैं॥२६॥

ब्राह्मणानां परिभवात्परिवादाच्च भारत ।
कुलान्यकुलतां यान्ति न्यासापहरणेन च ॥२७॥
कुलानि समुपेतानि गोभिः पुरुषतोऽर्थतः ।
कुलसंख्यां न गच्छन्ति यानि हीनानि वृत्ततः ॥२८॥
वृत्ततस्त्वविहीनानि कुलान्यल्पधनान्यपि ।
कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः ॥२९॥
वृत्तं यत्नेन संरक्षेद्वित्तमेति च याति च ।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ॥३०॥

हे भारत! ब्राह्मणों के तिरस्कार और निन्दा से तथा धरोहर के हर लेने से उत्तम कुल श्री निंदनीय हो जाता है॥२७॥ जो कुल आचार से भ्रष्ट हैं वे यदि गाय बैल आदिक पशुओं से, बहुत से पुरुषों से तथा धनों से भी सम्पन्न हों, तब भी उनकी गिनती अच्छे कुलों की गिनती में नहीं होती है॥२८॥ जो कुल आचारसे सम्पन्न हैं, वे यदिथोड़े भी धनसे युक्त हों,तब भी कुलसंख्या को प्राप्त होते हैं और महत् कीर्ति को प्रात हो जाते हैं॥२९॥ आचार की यत्न से रक्षा करे न कि आचार को त्यागकर धन की, क्योंकि कभी धन आ जाता है और कभी चला जाता है, जो कि धन से तो सम्पन्न है और आचार से भ्रष्ट है, वह मरे से भी मरा हुआ है॥३०॥

गोभिः पशुभिरश्वैश्च कृष्या च सुसमृद्धया ।
कुलानि न प्ररोहन्ति यानि हीनानि वृत्ततः ॥३१॥
मा नः कुले वैरकृत्कश्चिदस्तु राजामात्यो मा परस्वापहारी ।
मित्रद्रोही नैष्कृतिकोऽनृती वा पूर्वाशी वा पितृदेवातिथिभ्यः ॥३२॥
यश्च नो ब्राह्मणान्हन्याद्यश्च नो ब्राह्मणान् द्विषेत् ।
न नःस समितिं गच्छेद्यश्च नो निर्वपेत्पितॄन् ॥३३॥

जो कुल आचार से हीन है, वे गाय, वैल, पशु, घोड़ा और समृद्ध कृषि से भी उन्नति नहीं कर पाते हैं॥३१॥ हमारे कुल में कोई वैर करनेवाला न हो, दूसरों के धन को हरनेवाला कोई भी राजा अथवा मन्त्री न होवे और कोई भी मित्र का वैर करनेवाला, कपटी, झूंठ बोलनेवाला और पितृदेव और अतिथियों से पूर्व भोजन करनेवाला भी न हो॥३२॥ हम लोगों में से जो ब्राह्मणों को मारे और जो पितरों को पिण्डदान एवं तर्पण न करे, वह हमारे कुल में न हो॥३३॥

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥३४॥
श्रद्धया परया राजन्नुपनीतानि सत्कृतिम् ॥
प्रवृत्तानि महाप्राज्ञ धर्मिणां पुण्यकर्मिणाम् ॥३५॥
सूक्ष्मोऽपि भारं नृपते स्यन्दनो वै शक्तो वोढुं न तथान्ये महीजाः ।
एवं युक्ता भारसहा भवन्ति महाकुलीना न तथान्ये मनुष्याः ॥३६॥

तृण का आसन (चटाई), पृथ्वी, जल और चौथी प्रिय और सत्य वाणी, सज्जनों के गृहों में ये चार कदाचित् भी पृथक् नहीं होते हैं॥३४॥ हे राजन्! हे महाप्राज्ञ! पुण्यकर्मवाले धर्मात्माओं के यहाँ ये चारों बड़ी श्रद्धा के साथ साकार के लिये उपस्थित की जाती हैं॥३५॥ हे नृपते! छोटा सा भी रथ बोझा ढ़ोने में समर्थ होता है, किन्तु पृथ्वी से उत्पन्न होनेवाले अन्य वृक्ष नहीं समर्थ होते हैं, उसी प्रकार उत्तम कुल में उत्पन्न उत्साही पुरुष सहनेवाले होते हैं, उस प्रकार अन्य मनुष्य भार नहीं सह सकते हैं॥३६॥

न तन्मित्रं यस्य कोपाद्बिभेति यद्वा मित्रं शङ्कितेनोपचर्यम् ।
यस्मिन्मित्रे पितरीवाश्वसीत तद्वै मित्रं सङ्गतानीतराणि ॥३७॥

य: कश्चिदप्यसंबद्धो मित्रभावेन वर्तते ।
स एव बन्धुस्तन्मित्रं सा गतिस्तत्परायणम् ।।३८।।
चलचित्तस्य वै पुंसो वृद्धाननुपसेवतः ।
पारिप्लवमतेर्नित्यमध्रुवो मित्रसंग्रहः ।।३९।।

जिसके क्रोध से डरना पड़े तथा शंकित चित्त से जिसकी सेवा की जाय वह मित्र नहीं है। जिस मित्र पर पिता के समान विश्वास किया जा सके वह मित्र है, अन्य संगममात्र के ही मित्र होते हैं।।३७।। पहले से कोई संबंध न होने पर भी जो मित्रता का व्यवहार करे वही बन्धु है, वही मित्र है, वही गति और वही आश्रय है।।३८।। जिसका चित्त चञ्चल रहता है, जो वृद्धों की सेवा नहीं करता है, उस अनिश्चित मति वाले पुरुष के लिय मित्रों का संग्रह स्थायी नहीं होता।।३९।।

चलचित्तमनात्मानमिन्द्रियाणां वशानुगम् ।
अर्थाःसमभिवर्तंते हंसाःशुष्कं सरो यथा ।।४०।।
अकस्मादेव कुप्यन्ति प्रसीदन्त्यनिमित्ततः ।
शीलमेतदसाधूनामभ्रं पारिप्लवं यथा ।।४१।।
सत्कृताश्च कृतार्थाश्च मित्राणां न भवन्ति ये ।
तान्मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान्नोपभुञ्जते ।।४२।।
अर्चयेदेव मित्राणि सति वाऽसति वा धने ।
नानर्थयन्प्रजानाति मित्राणां सारफल्गुताम्।।४३।।

जिसका चित्त चलायमान रहता है, जो दुरात्मा है और जो इंद्रियों के वश चलता है उसको अर्थ की प्राप्ति नहीं होती, जिस प्रकार कि सूखे सरोवर के समीप हंस आकर लौट जाते हैं, भीतर प्रवेश नहीं करते।।४०।। अकस्मात् ही क्रोध करना और बिना ही निमित्त प्रसन्न हो जाना असज्जनों का स्वभाव है। ऐसे लोग सदैव चञ्चल रहते हैं, जिस प्रकार कि बादल चलायमान रहता है।।४१।। सत्कार पाये हुए तथा कृतार्थ हुए जो जन मित्रों के हित के लिये नहीं होते हैं, उन मरे हुए कृतघ्नों को मांस खानेवाले गृध्रादिक भी नहीं खाते हैं।।४२।। धन होने पर अथवा न होने पर सब समय मित्रों का सत्कार करे, मित्रों से कुछ भी न मांगते हुए उनके सार असार की परीक्षा न करे।।४३।।

सन्तापाद्भ्रश्यते रूपं सन्तापाद्भ्रश्यते बलम् ।
सन्तापाद्भ्रश्यते ज्ञानं सन्तापाद्व्याधिमृच्छति॥४४॥
अनवाप्यं च शोकेन शरीरं चोपतप्यते ।
अमित्राश्च प्रहृष्यन्ति मा स्म शोके मनः कृथाः॥४५॥
पुनर्नरो म्रियते जायते च पुनर्नरो हीयते वर्धते च ।
पुनर्नरो याचति याच्यते च पुनर्नरः शोचति शोच्यते च ॥४६॥

सन्ताप करने से रूप भ्रष्ट हो जाता है, संताप करने से बल भ्रष्ट हो जाता है, सन्ताप करने से ज्ञान भ्रष्ट हो जाता है और सन्ताप करने से व्याधि को प्राप्त हो जाता है॥४४॥ शोक करने से अभीष्ट वस्तु नहीं मिलती है, उससे तो केवल शरीर को कष्ट होता है और शत्रुगण हर्षित होते हैं, इसलिये आप मन में शोक न करें॥४५॥ संसार से कभी नर मर जाता है, कभी फिर उत्पन्न होता है, कभी संपदाओं से हीन हो जाता है, कभी फिर संपदाओं से वृद्धि को प्राप्त हो जाता है, कभी आप दूसरों से मांगता है और कभी फिर आप दूसरों द्वारा याचना किया जाता है, कभी आप दूसरों के लिये शोक करता है और कभी दूसरे उसके लिये शोक करते हैं॥४६॥

सुखं च दुःखं च भवाभवौ च लाभालाभौ मरणं जीवितं च ।
पर्यायशः सर्वमेते स्पृशन्ति तस्माद्धीरो न च हृष्येन्न शोचेत् ॥४७॥
चलानि हीमानि षडिन्द्रियाणि तेषां यद्यद्वर्धते यत्र यत्र ।
ततस्ततः स्रवते बुद्धिरस्य छिद्रोदकुम्भादिव नित्यमम्भः ॥४८॥

धृतराष्ट्र उवाच

तनुरुद्धः शिखी राजा मिथ्योपचरितो मया ।
मन्दानां मम पुत्राणां युद्धेनान्तं करिष्यति ॥४९॥

सुख और दुःख, लाभ और हानि, मरण और जीवन, ये क्रम से पुरुषमात्र को समय समय पर स्पर्श करते रहते हैं। इसलिये धीर पुरुष को न तो प्रसन्न होना चाहिये और न ही शोक करना चाहिये॥४७॥ पांच ज्ञानेन्द्रियां और छठा मन, ये इन्द्रियां अतिचंचल हैं उनमें जो जो इंद्रिय जिस जिस विषय में वृद्धि को प्राप्त होती है उसी उसी विषय से उसकी बुद्धि टपक जाती है, जिस प्रकार कि छिद्रवाले जल के कलश से सदा ही

जल टपकता है॥४८॥ धृतराष्ट्र ने कहा—हे विदुरजी! अग्नि के समान शरीर में गुप्त सामर्थ्यवाले राजा युधिष्ठिर के साथ मैंने कपटपूर्ण व्यवहार किया है, इस कारण वे मेरे मन्दपुत्रों का युद्ध करके नाश कर देंगे॥४९॥

नित्योद्विग्नमिदं सर्वं नित्योद्विग्नमिदं मनः ।
यत्तत्पदमनुद्विग्नं तन्मे वद महामते ॥५०॥

विदुर उवाच

नान्यत्र विद्यातपसोर्नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात् ।
नान्यत्र लोभसंत्यागाच्छान्तिं पश्यामितेऽनघ ॥५१॥
बुद्धया भयं प्रणुदति तपसा विन्दते महत् ।
गुरुशुश्रूषया ज्ञानं शान्तिं योगेन विन्दति ॥५२॥

हे महामते! यह समस्त चर अचर विश्व नित्य उद्विग्न रहता है और यह मन भी नित्य उद्वेगयुक्त रहता है जो पद उद्वेगयुक्त न होवे, वह मुझसे कहिये॥५०॥ विदुरजी बोले हे निष्पाप! विद्या, तपस्या, इन्द्रियों को रोकना और लोभ के त्यागने के विना आपकी शान्ति का उपाय मुझे नहीं दीखता है॥५१॥ संसार में मनुष्य विचार से भयको दूर कर देता है, तप से महत्व को प्राप्त हो जाता है, गुरुजनों की सेवा से ज्ञान को प्राप्त होता है। और योग से शान्ति को प्राप्त होता है॥५२॥

अनाश्रिता दानपुण्यं वेदपुण्यमनाश्रिताः ।
रागद्वेषविनिर्मुक्ता विचरन्तीह मोक्षिणः ॥५३॥
स्वधीतस्य सुयुद्धस्य सुकृतस्य च कर्मणः ।
तपसश्च सुतप्तस्य तस्यान्ते सुखमेधते ॥५४॥

स्वास्तीर्णानि शयनानि प्रपन्ना न वै भिन्ना जातु निद्रां लभन्ते ।
न स्त्रीषु राजन् रतिमाप्नुवन्ति न मागधैः स्तूयमाना न सूतैः ॥५५॥

मोक्ष की इच्छा करने वाले लोग दान तो करते हैं, किन्तु उस दान के पुण्य स्वर्गादि की आकांक्षा नहीं करते हैं। वेद का अध्ययनाध्यापन तो करते हैं, किन्तु उसके फल के आश्रित नहीं होते हैं, अपितु राग और द्वेष से हीन हुए मनुष्यों का कल्याण करते हुए इस संसार में विचरते हैं॥५३॥ भली प्रकार अध्ययन, न्यायोचित युद्ध, पुण्यकर्म और अच्छी

तरह की हुई तपस्या के अन्त में सुख की वृद्धि होती है॥५४॥ आपस में फूट रखने वाले लोग अच्छे बिछौनों वाली शय्याओं पर सोते हुए भी सुख की नींद नहीं सोने पाते, उन्हें स्त्रियों के पास रहकर की हुई स्तुति सुन कर भी प्रसन्नता नहीं होती॥५५॥

न वै भिन्ना जातु चरन्ति धर्मं न वै सुखं प्राप्नुवन्तीह भिन्नाः ।
न वै भिन्ना गौरवं प्राप्नुवन्ति न वै भिन्नाः प्रशमं रोचयन्ति ॥५६॥
न वै तेषां स्वदते पथ्यमुक्तं योगक्षेमं कल्पते नैव तेषाम् ।
भिन्नानां वै मनुजेन्द्र परायणं न विद्यते किञ्चिदन्यद्विनाशात् ॥५७॥

जो आपस में भेदभाव रखते हैं, वे कभी धर्म का आचरण नहीं करते, न सुख पाते हैं। उन्हें गौरव भी नहीं प्राप्त होता तथा शान्ति की वार्ता भी अच्छी नहीं लगती॥५६॥ उनके हित के लिये कही गयी बात भी उन्हें अच्छी नहीं लगती, उनके योगक्षेम की भी सिद्धि नहीं हो पाती। हे राजन्! भेदभाव वाले पुरुषों की विनाश के अलावा कोई गति नहीं॥५७॥

संपन्नं गोषु संभाव्यं संभाव्यं ब्राह्मणे तपः ।
संभाव्यं चापलं स्त्रीषु संभाव्यं ज्ञातितो भयम् ॥५८॥
तन्तवोऽप्यायिता नित्यं तनवो बहुलाः समाः ।
बहून्बहुत्वादायासान्सहन्तीत्युपमा सताम् ॥५९॥
धूमायन्ते व्यपेतानि ज्वलन्ति सहितानि च ।
धृतराष्ट्रोल्मुकानीव ज्ञातयो भरतर्षभ ॥६०॥
ब्राह्मणेषु च ये शूराः स्त्रीषु ज्ञातिषु गोषु च ।
वृन्तादिव फलं पक्वं धृतराष्ट्र पतन्ति ते ॥६१॥

गौओं में दुग्धादि संपत्ति होनी चाहिये, ब्राह्मण में तप होना चाहिये, स्त्रियों में चपलता होनी चाहिये और जाति से भय होना चाहिये॥५८॥ परस्पर एक समान बहुत से सूक्ष्म तन्तु मिलकर दृढ़ रहते हैं और वे बहुत होने से बहुत से कष्ट सह लेते हैं। यह उपमा सज्जनों की हैं, जिस प्रकार कि, अल्पबल होकर भी सज्जन बहुतों के साथ अनेक कष्ट सह लेने को समर्थ होते हैं॥५९॥ हे भरतश्रेष्ठ धृतराष्ट्र! जिस प्रकार कि

आपस में पृथक् हुए अंगार धुआं करते हैं और मिलकर जलने लगते हैं, उसी प्रकार जातिवाले भी जानने चाहिये।।६०।। हे धृतराष्ट्रजी! ब्राह्मण, स्त्री, जाति और गौओं को पीड़ा पहुंचाने में जो शूर अर्थात् समर्थ हैं, वे पतित हो जाते हैं, जिस प्रकार कि, डाली से पका हुआ फल गिर जाता है।।६१।।

महानप्येकजो वृक्षो बलवान् सुप्रतिष्ठितः ।
प्रसह्य एव वातेन सस्कन्धो मर्दितुं क्षणात् ।।६२।।
अथ ये सहिता वृक्षाः संघशः सुप्रतिष्ठिताः ।
ते हि शीघ्रतमान्वातान्सहन्तेन्योन्यसंश्रयात् ।।६३।।
एवं मनुष्यमप्येकं गुणैरपि समन्वितम् ।
शक्यं द्विषन्तो मन्यन्ते वायुर्द्रुममिवैकजम् ।।६४
अन्योन्यसमुपष्टंभादन्योन्यापाश्रयेण च ।
ज्ञातयः संप्रवर्धन्ते सरसीवोत्पलान्युत ।।६५।।

भली प्रकार पुष्टतापूर्वक स्थित हुआ अति बलवान् बड़ा भारी अकेला वृक्ष शाखाओं सहित क्षणमात्र में ही पवन से मर्दित होने में समर्थ होता है।।६२।। और जो वृक्ष वन में इकट्ठे मिले हुए, समूह के समूह, भली प्रकार पुष्टतापूर्वक खड़े हुए हैं वे परस्पर आश्रय से अतिशीघ्र चलने वाले पवनों को सह लेते हैं।।६३।। इसी प्रकार समस्त गुणों से संपन्न मनुष्य को अकेले होने पर शत्रु अपनी ताकत के अन्दर समझते हैं, जिस प्रकार कि पवन अकेले जमें हुए वृक्ष के उखाड़ने में समर्थ होता है।।६४।। परस्पर मेलमिलाप होने से, परस्पर एक दूसरे के आश्रय से जातिवाले लोग इस प्रकार वृद्धि को प्राप्त होते हैं, जिस प्रकार कि, तालाब में कमल मिलकर बढ़ते हैं।।६५।।

अवध्या ब्राह्मणा गावो ज्ञातयः शिशवः स्त्रियः ।
येषां चान्नानि भुञ्जीत ये च स्युः शरणागताः ।।६६।।
न मनुष्ये गुणः कश्चिद्राजन्सधनतामृते ।
अनातुरत्वाद्भद्रं ते मृतकल्पा हि रोगिणः ।।६७।।
अव्याधिजं कटुकं शीर्षरोगि पापानुबन्धं परुषं तीक्ष्णमुष्णम् ।
सतां पेयं यन्न पिबन्त्यसन्तो मन्युं महाराज पिब प्रशाम्य ।।६८।।

हे राजन्! ब्राह्मण, गौ, जाति, बालक और स्त्री ये और जिनका अन्न खाया हो तथा जो शरण में आ गये हों, वे मारने योग्य नहीं हैं॥६६॥ हे राजन्! सधनता और आरोग्य के विना मनुष्य में और कोई गुण नहीं है, किन्तु सधनता औरआरोग्य ही गुण है, क्योंकि निर्धन और रोगी जन जीते ही मरे के समान होते हैं, किन्तु आपके तो धन और आरोग्य होने से सब प्रकार कल्याण है॥६७॥ हे महाराज! आप क्रोध का पान कीजिये और शान्त हो जाइये, यह विना रोग के ही उत्पन्न हो जाता है, स्वभाव से अतिकडुवा और कठोर तथा तीक्ष्ण और गरम है और शिर का दर्द और पाप का संग्रह करने वाला है, सज्जनों के पान करने योग्य है और जिसको असज्जन नहीं पीते हैं॥६८॥

रोगार्दिता न फलान्याद्रियन्ते न वै लभन्ते विषयेषु तत्वम् ।
दुःखोपेता रोगिणो नित्यमेव न बुद्धयन्ते धनभोगान्न सौख्यम् ॥६९॥
पुरा ह्युक्तं नाकरोस्त्वं वचो मे द्यूते जितां द्रौपदीं प्रेक्ष्य राजन् ।
दुर्योधनं वारयेत्यक्षवत्यां कितवत्वं पण्डिता वर्जयन्ति ॥७०॥

रोग से पीड़ित हुए जन सत् असत् कार्य के फलों का आदर नहीं करते हैं, विषयों में भी उन्हें कुछ सार नहीं मिलता रोगों से सदा दुखी रहते हैं, वे न तो धन भोगों का और न सुख का ही अनुभव करते हैं॥६९॥ हे राजन्! पहिले जुआ में जीती हुई द्रौपदी को देखकर मैंने "आप पाशों की क्रीड़ा में आसक्त दुर्योधन को रोकिये क्योंकि, जुआ में प्रीति करने रूप कर्म को पण्डितजन वर्जित करते हैं। किन्तु आपने मेरा कहना नहीं माना॥७०॥

न तद्बलं यन्मृदुना विरुध्यते सूक्ष्मो धर्मस्तरसा सेवितव्यः ।
प्रध्वंसिनी क्रूरसमाहिता श्रीर्मृदुप्रौढा गच्छति पुत्रपौत्रान् ॥७१॥
धार्तराष्ट्राः पाण्डवान्पालयन्तु पाण्डोः सुतास्तव पुत्रांश्च पान्तु ।
एकारिमित्राः कुरवो ह्येककार्या जीवन्तु राजन् सुखिनः समृद्धाः ॥७२॥

वह बल नहीं जिसका कोमल स्वभाव के साथ विरोध हो, सूक्ष्म धर्म का सेवन शीघ्र करने योग्य हैं। क्रूरता पूर्वक उपार्जन की हुई लक्ष्मी नश्वर होती है, यदि वह कोमलता पूर्वक बढ़ायी गयी हो तो पुत्र पौत्रों तक स्थिर रहती है॥७१॥ मेरी सम्मति तो यह है कि, धृतराष्ट्र के पुत्र

पाण्डवों की रक्षा करें और पाण्डुके पुत्र आपके पुत्रों की रक्षा करें। हे राजन्! एक ही शत्रु मित्रवाले और एक ही कार्यवाले होकर कौरव सुखी और समृद्ध होकर जीयें।।७२।।

मेढीभूतः कौरवाणां त्वमद्य त्वयाधीनं कुरुकुलमाजमीढ ।
मार्थान्बालान्वनवासप्रतप्तान् गोपायस्व स्वं यशस्तात रक्षन् ।।७३।।
सन्धत्स्व त्वं कौरवपाण्डुपुत्रैर्मा तेऽन्तरं रिपवः प्रार्थयन्तु ।
सत्ये स्थितास्ते नरदेव सर्वे दुर्योधनं स्थापय त्वं नरेन्द्र ।।७४।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरहितवाक्ये षट्त्रिंशोऽध्यायः ।।३६।। [४]

हे आजमीढ़! आप ही अब कौरवों के आधार स्तम्भ हैं। तात! अपनी कीर्ति की रक्षा करते हुए आप वनवास से दुःखित, बालक पांडवों की रक्षा करिये।।७३।। हे कौरव! पांडुपुत्रों के साथ सलाह कर लीजिये, आपके परस्पर भेद होने की आपके शत्रुजन आकांक्षा न करें! हे नरदेव! वह पाण्डव समस्त सत्य में स्थित हैं हे नरेन्द्र! आप दुर्योधन को सत्य में स्थित कीजिये।।७४।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरहितवाक्ये श्रीपाठकवंशावतंस-पंडितमङ्गलसेनात्मजकाशिरामविरचित भाषातिलके षट्त्रिंशोऽध्यायः।।३६।। [४]

*****

पाँचवा अध्याय

विदुर उवाच

सप्तदशेमान् राजेन्द्र मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ।
वैचित्रवीर्य पुरुषानाकाशं मुष्टिभिर्घ्नतः ।।१।।

दानवेन्द्रस्य च धनुरनाम्यं नमतोऽब्रवीत् ।
अथो मरीचिनः पादानग्राह्यान् गृह्णतस्तथा ॥२॥

विदुरजी कहते हैं–हे राजेन्द्र! हे वैचित्रवीर्य! स्वायम्भुव मनु ने इन सतरह पुरुषों को मूर्ख बतलाया है, कैसे वे मूर्ख हैं कि जो आकाश पर मुष्टियों से प्रहार करते हैं॥१॥ मेघ समूहों के इन्द्र का वर्षाकाल में दीखनेवाला धनुष झुकाया नहीं जा सकता किन्तु उसे झुकाना चाहते हैं, सूर्य की किरणें पकड़ी नहीं जा सकती, उन्हें पकड़ना चाहते हैं॥२॥

यश्चाशिष्यं शास्ति वै यश्च तुष्येद्यश्चातिवेलं भजते द्विषन्तम् ।
स्त्रियश्च यो रक्षति भद्रमश्नुते यथायाच्यं याचते कत्थते वा ॥३॥
यश्चाभिजातः प्रकरोत्यकार्यं यश्चाबलो बलिना नित्यवैरी ।
अश्रद्दधानाय च यो ब्रवीति यश्चाकाम्यं कामयते नरेन्द्र ॥४॥

अनाधिकारी को उपदेश देते हैं, जो निंदितवृत्ति से प्रसन्न होते हैं, जो शत्रु की सेवा करते हैं, जो स्त्रियों की रक्षा करते हैं और स्त्रियों की सेवा से कल्याण पाते हैं, जो नहीं मांगने लायक से मांगता है और जो कि वृथा ही बकवाद करता है॥३॥ और जो कि, कुलीन होकर नहीं करने लायक कर्म करता है। और जो कि निर्बल होकर बली के साथ सदैव वैर करता है और जो कि नहीं श्रद्धा रखनेवाले के लिये भलाई की बात कहता है और हे नरेन्द्र! जो कि नहीं चाहने योग्य पदार्थ की चाहना करता है॥४॥

वध्वाऽवहासं श्वशुरो मन्यते यो वध्वाऽवसन्नभयो मानकामः ।
परक्षेत्रे निर्वपति यश्च बीजं स्त्रियं च यः परिवदतेऽतिवेलम् ॥५॥
यश्चापि लब्ध्वा न स्मरामीतिवादी दत्वा च यः कत्थति याच्यमानः ।
यश्चासतः सत्वमुपानयीत एतान्नयन्ति निरयं पाशहस्ताः ॥६॥

जो श्वशुर होकर पुत्रवधू के साथ परिहास करना ठीक समझता है, पुत्रवधू द्वारा संकट से छूटकर भी उससे मान सम्मान की कामना करता है पर स्त्री के साथ गमन करता है और जो आवश्यकता से अधिक स्त्री की निंदा करता है॥५॥ और जो कि, दूसरे से लेकर यह कहता है कि मैं नहीं जानता हूँ, जो किसी के द्वारा याचना करने पर दान देकर अपनी बड़ाई करता है और जो कि, झूठ को सही साबित करता है, इन सबको

यमराज के दूत नरक में ले जाते हैं।।६।।

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः ।
मायाचारो मायया वर्तितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ।।७।।
जरा रूपं हरति हि धैर्यमाशा मृत्युः प्राणान्धर्मचर्यामसूया ।
कामो ह्रियं वृत्तमनार्यसेवा क्रोधः श्रियं सर्वमेवाभिमानः ।।८।।

जो मनुष्य जिसके साथ जिस प्रकार का व्यवहार करे उसके साथ भी उसको उसी प्रकार का व्यवहार करना चाहिये यह धर्म है। कपटी के साथ कपट का ही व्यवहार करना चाहिये और सज्जनों के साथ सज्जनता का।।७।। वृद्धावस्था रूप को, आशा धीरज को, मृत्यु प्राणों को, निन्दा धर्मचर्या को, काम लज्जा को, दुर्जनों की सेवा आचार को, क्रोध लक्ष्मी को और अभिमान सर्वस्व को हर लेता है।।८।।

धृतराष्ट्र उवाच

शतायुरुक्तः पुरुषः सर्ववेदेषु वै यदा ।
नाप्नोत्यथ च तत्सर्वमायुः केनेह हेतुना ।।९।।

विदुर उवाच

अतिमानोऽतिवादश्च तथाऽत्यागो नराधिप ।
क्रोधश्चात्मविधित्सा च मित्रद्रोहश्च तानि षट् ।।१०।।
एत एवासयस्तीक्ष्णाः कृन्तन्त्यायूंषि देहिनाम् ।
एतानि मानवान्घ्नन्ति न मृत्युर्भद्रमस्तु ते ।।११।।

धृतराष्ट्र ने कहा! हे विदुरजी! जब कि समस्त वेदों में मनुष्य की आयु सौ वर्ष बतलाई है, फिर भी वह पूरी आयु को किस कारण नहीं प्राप्त होता है।।९।। तब विदुरजी बोले, हे नराधिप! अत्यन्त गर्व, निष्ठुर बोलना, त्याग का अभाव, क्रोध, अपना ही उदरपोषण करने की इच्छा, मित्र से बैर।।१०।। ये छः बड़ी पैनी तलवारें हैं जो देहधारियों की आयु को काट देती हैं और मनुष्यों को मार देती हैं। इसलिये हे राजन्! इन तलवारों से आपकी मृत्यु न हो आपका कल्याण हो, ऐसा प्रयत्न करिये।।११।।

विश्वस्तस्यैति यो दारान् यश्चापि गुरुतल्पगः ।
वृषलीपतिर्द्विजो यश्च पानश्चैव भारत ॥१२॥
आदेशकृतद्वृत्तिहन्ता द्विजानां प्रेषकश्च यः ।
शरणागतहा चैव सर्वे ब्रह्महणः समाः ।
एतैः समेत्य कर्तव्यं प्रायश्चित्तमिति श्रुतिः ॥१३॥
गृहीतवाक्यो नयविद्वदान्यः शेषान्नभोक्ता ह्यविहिंसकश्च ।
नानर्थकृत्याकुलितः कृतज्ञः सत्यो मृदुः स्वर्गमुपैति विद्वान् ॥१४॥

हे भारत! जो अपने पर विश्वास करने वाले की स्त्रियों के साथ ज्यादा गमन करने वाला, गुरु स्त्री गामी, द्विज होकर शूद्रा का पति होने वाला, मदिरा पान करने वाला है॥१२॥ बड़ों पर हुक्म चलाने वाला, दूसरों की आजीविका नष्ट करने वाला, ब्राह्मणों को इधर उधर के काम में भेजने वाला और शरण में आये हुए को मारने वाला, ये सब ब्रह्म हत्या करने वालों के समान हैं इनके साथ संसर्ग करके मनुष्य को अवश्य ही प्रायश्चित्त करना चाहिये ऐसा वेदोंका वचन है॥१३॥ बड़ों की आज्ञा मानने वाला, नीतिज्ञ, दानी, अतिथि आदि के भोजन करने के बाद बचे हुए अन्न का भोजन करने वाला, किसी की भी हिंसा नहीं करने वाला, अनर्थकारी कार्यों से दूर रहने वाला, कृतज्ञ, सत्य बोलने वाला तथा कोमल स्वभाव वाला विद्वान् स्वर्ग को प्राप्त होता है॥१४॥

सुलभाः पुरुषा राजन्सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥१५॥
यो हि धर्मं समाश्रित्य हित्वा भर्तुः प्रियाप्रिये ।
अप्रियाण्याह पथ्यानि तेन राजा सहायवान् ॥१६॥
त्यजेत्कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥१७॥

हे राजन्! संसार में निरन्तर प्रिय वाक्य कहने वाले तो बहुत मिलते हैं, किन्तु वास्तव में हितकारक और बोलने में अप्रिय प्रतीत होने वाले वाक्य को कहने वाला और सुनने वाला दुर्लभ है॥१५॥ जो धर्म का आश्रय लेकर स्वामी को अच्छी लगेगी या बुरी इसका विचार छोड़कर,

बोलने में तो अप्रिय लगे किन्तु वास्तव में हितकारी हों ऐसे वचन स्वामी से कहने वाला ही राजा का सच्चा सहायक होता है।।१६।। जिस पुरुष के रहने से कुल में दोष आता हो तो उस पुरुष को त्याग दे, जिस कुल से यदि ग्राम भर में दोष आता हो तो उस कुलको त्याग दे, जिस ग्राम से देशभर में दोष आता हो तो उस ग्राम को त्याग दे और जिस पृथिवी से अपने में दोष आता हो तो उस पृथिवी को त्याग दे।।१७।।

आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान् रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ।।१८।।
द्यूतमेतत्पुरा कल्पे दृष्टं वैरकरं नृणाम् ।
तस्माद् द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान् ।।१९।।
उक्तं मया द्यूतकालेऽपि राजन्नेदं युक्तं वचनं प्रातिपेय ।
तदौषधं पथ्यमिवातुरस्य न रोचते तव वैचित्रवीर्य ।।२०।।

आपत्ति काल के लिये धन की रक्षा करे, धन से स्त्रियों की रक्षा करे, स्त्री और धन इन दोनों से अपनी स्वयम्की रक्षा करे।।१८।। पूर्वकाल में भी जुआ खेलना मनुष्यों के बीच वैर करने वाला सिद्ध हुआ है, अतः बुद्धिमान् मनुष्य को हँसी के लिये भी जुआ नहीं खेलना चाहिये।।१९।। हे राजन्! जुआ खेलने के समय भी मैंने यह योग्य वचन कहा था किन्तु हे वैचित्रवीर्य! आपको वह अच्छा नहीं लगा था जैसा कि रोगी को हित कारक औषधि अच्छी नहीं लगती है।।२०।।

काकैरिमांश्चित्रबर्हान्मयूरान् पराजयेथाः पाण्डवान्धार्तराष्ट्रैः ।
हित्वा सिंहान् क्रोष्टुकान्गूहमानः प्राप्ते काले शोचिता त्वं नरेन्द्र ।।२१।।
यस्तात न क्रुध्यति सर्वकालं भृत्यस्य भक्तस्य हिते रतस्य ।
तस्मिन्भृत्या भर्तरि विश्वसन्ति न चैनमापत्सु परित्यजन्ति ।।२२।।

हे नरेन्द्र! विचित्र पांखवाले मयूररूप इन पांडवों को काकरूप दुर्योधनादिक से पराजित कराते हो, सिंहों को छोड़कर सियारों की रक्षा करना चाहते हो, इस लिये समय आने पर आप शोच करोगे।।२१।। हे तात! जो स्वामी अपने हित में लगे हुये सेवा करने वाले सेवक के प्रति कभी क्रोध नहीं करता है उस स्वामीका सेवक भी

विश्वास करते हैं और आपत्तियों में स्वामी को कभी नहीं छोड़ते हैं॥२२॥

न भृत्यानां वृत्तिसंरोधनेन राज्यं धनं संजिघृक्षेदपूर्वम् ।
त्यजन्ति ह्येनं वञ्चिता वै विरुद्धाः स्निग्धा ह्यमात्याः परिहीनभोगाः॥२३॥
कृत्यानि पूर्वं परिसंख्याय सर्वाण्यायव्यये चानुरूपां च वृत्तिम् ।
संगृह्णियादनुरूपान्सहायान् सहायसाध्यानि हि दुष्कराणि ॥२४॥
सेवकों की आजीविका बंद करके अपूर्व धन संग्रह नहीं करना चाहिये क्योंकि आजीविका से वंचित सेवक स्वामी को त्याग देते हैं, वृत्तिहीन मंत्रिगण कैसे भी प्रिय क्यों न हों, स्वामी के विरुद्ध हो जाते हैं॥२३॥ पहले साध्यासाध्यका विचार करके कर्म का निश्चय करे, लाभ और हानि का विचार कर वृद्धि का निश्चय करे, उसके बाद अपने अनुकूल सहायकों का संग्रह करे क्योंकि दुष्कर कर्म सहायकों से ही सिद्ध किये जा सकते हैं॥२४॥
अभिप्रायं यो विदित्वा तु भर्तुः सर्वाणि कार्याणि करोत्यतन्द्री ।
वक्ता हितानामनुरक्त आर्यः शक्तिज्ञ आत्मेव हि सोनुकंप्यः ॥२५॥
वाक्यं तु यो नाद्रियतेऽनुशिष्टः प्रत्याह यश्चापि नियुज्यमानः ।
प्रज्ञाभिमानी प्रतिकूलवादी त्याज्यः स तादृक् त्वरयैव भृत्यः ॥२६॥
जो स्वामी का अभिप्राय जानकर समस्त कार्यों को निरालस्य होकर करता है, हितकारक बात कहता है, स्वामी के प्रति सदैव ही प्रीतियुक्त रहता है, आचरणों में श्रेष्ठ और अपनी शक्ति को जानने वाला है, वह सेवक आत्मा के समान अनुकम्पा करने योग्य है॥२५॥ जो आज्ञा दिये जाने पर स्वामी के वाक्य का आदर नहीं करता है, जो किसी कार्य में नियुक्त किया हुआ भी प्रत्युत्तर दे देता है, जो अपनी बुद्धि का अभिमान करता है और जो स्वामी के विरुद्ध बोलता है इस तरह का सेवक शीघ्र ही त्यागने योग्य है॥२६॥

अस्तब्धमक्लीबमदीर्घसूत्रं सानुक्रोशं श्लक्ष्णमहार्यमन्यैः ।
अरोगजातीयमुदारवाक्यं दूतं वदन्त्यष्टगुणोपपन्नम् ॥२७॥

न विश्वासाज्जातु परस्य गेहे गच्छेन्नरश्चेतयानो विकाले ।
न चत्वरे निशि तिष्ठेन्निगूढो न राजकाम्यां योषितं प्रार्थयीत ॥२८॥

जो इन आठ गुणों से युक्त हो उसको पंडितजन दूत कहते हैं। जो ढीठ न हो, असमर्थ न हो, शीघ्रता के कार्य में देर करने वाला न हो, दयायुक्त हो, कोमल स्वभाव वाला हो, दूसरे जिसका भेद न ले सकें, रोगजातीय न हो, उदार बोलने वाला हो॥२७॥ विश्वास से जानते हुए भी मनुष्य को असमय में दूसरे के घर नहीं जाना चाहिये, रात में छिपकर आंगन में नहीं खड़ा होना चाहिये और राजा की चाही हुई स्त्री की कामना नहीं करनी चाहिये॥२८॥

न निह्नवं मन्त्रगतस्य गच्छेत् संसृष्टमंत्रस्य कुसङ्गतस्य ।
न च ब्रूयान्नाश्वसिमि त्वयीति सकारणं व्यपदेशं तु कुर्यात् ॥२९॥
घृणी राजा पुंश्चली राजभृत्यः पुत्रो भ्राता विधवा बालपुत्रा ।
सेनाजीवी चोद्धृतभूतिरेव व्यवहारेषु वर्जनीयाः स्युरेते ॥३०॥

दुष्टमन्त्रियों वाले राजा की वहुतों के साथ की हुई सलाह में पूछने पर भी कुछ गोपनकारी वचन न कहे और न यह कहे कि ऐसी सलाह करने में तुम्हारे प्रति मैं विश्वास नहीं करता हूं किन्तु कुछ बहाना बताकर दूर चला जावे जिससे फिर सलाह को न बुलाया जाय॥२९॥ अत्यधिक दयालु राजा, व्यभिचारिणी स्त्री, राजा का दास, पुत्र, भ्राता, बालक पुत्रों वाली विधवा, सैनिक और अधिकारच्युत व्यक्ति, इनके साथ बुद्धिमान मनुष्य को लेन देन नहीं करना चाहिये॥३०॥

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति प्रज्ञा च कौल्यं च श्रुतं दमश्च ।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥३१॥
एतान्गुणांस्तात महानुभावानेको गुणः संश्रयते प्रसह्य ।
राजा यदा सत्कुरुते मनुष्यं सर्वान्गुणानेष गुणो बिभर्ति ॥३२॥

बुद्धि, कुलीनता, शास्त्राभ्यास, इन्द्रियों को वश में रखना, पराक्रम, बहुत न बोलना, यथाशक्ति दान, कृतज्ञता ये आठ गुण मनुष्य को प्रकाशित करते हैं॥३१॥ हे तात! एक गुण ऐसा है जो इन सभी प्रभावशाली गुणों से बढ़कर है, राजा जब किसी मनुष्य का सत्कार

करता है तो यह गुण सब गुणों को धारण कर लेता है॥३२॥

गुणा दश स्नानशीलं भजन्ते बलं रूपं स्वरवर्णप्रशुद्धिः ।
स्पर्शश्च गन्धश्च विशुद्धता च श्रीः सौकुमार्यं प्रवराश्च नार्यः ॥३३॥
गुणाश्च षण्मितभुक्तं भजन्ते आरोग्यमायुश्च बलं सुखं च ।
अनाविलं चास्य भवत्यपत्यं न चैनमाद्यून इति क्षिपन्ति ॥३४॥
अकर्मशीलं च महाशनं च लोकद्विष्टं बहुमायं नृशंसम् ।
अदेशकालज्ञमनिष्टवेषमेतान् गृहे न प्रतिवासयेत ॥३५॥

नित्य स्नान करने वाले मनुष्य को दश गुण प्राप्त होते हैं, बल, रूप, स्वर की शुद्धता, वर्ण की शुद्धता, स्पर्श, गन्ध, विशुद्धता, कान्ति, सुकुमारता, और उत्तम स्त्रिया॥३३॥ प्रमाण का भोजन करने वाले को छः गुण प्राप्त होते हैं, आरोग्य, आयु, बल, सुख, सुन्दर गुणयुक्त सन्तान, और लोग उसको "यह बहुत खाने वाला है", इस प्रकार आक्षेप नहीं करते हैं॥३४॥ अकर्मण्य, बहुत भोजन करने वाला, लोगों से द्वेष रखने वाला, बहुत मायावी, निर्दयी, देश काल से अनभिज्ञ और कुवेष धारण करने वाला, इनको अपने घर में कभी भी स्थान न दे॥३५॥

कदर्यमाक्रोशकमश्रुतं च वनौकसं धूर्तममान्यमानिनम् ।
निष्ठूरिणं कृतवैरं कृतघ्नमेतान्भृशार्त्तोऽपि न जातु याचेत् ॥३६॥
संक्लिष्टकर्माणमतिप्रमादं नित्यानृतं चादृढभक्तिकं च ।
विसृष्टरागं पटुमानिनं चाप्येतान्न सेवेत नराधमान् षट् ॥३७॥

कृपण, निन्दक, वन में रहने वाला, धूर्त्त मान के अयोग्य का मान करने वाला, निर्दयी, जिसने अपने से वैर किया हो, और जो कि उपकार नहीं मानता है, इन नौ जनों से कदाचित् भी न मांगे॥३६॥ आततायी, अतिप्रमाद वाला, सदा झूंठ बोलनें वाला, अदृढ़ भक्ति वाला, जिसने स्नेह त्याग दिया हो, और जो अपने को चतुर मानता हो इन छः नीच नरों की कभी भी सेवा न करे॥३७॥

सहायबन्धना ह्यर्थाः सहायाश्चार्थबन्धनाः ।
अन्योन्यबन्धनावेतौ विनान्योन्यं न सिध्यतः ॥३८॥

उत्पाद्य पुत्राननृणांश्च कृत्वा वृत्तिं च तेभ्योऽनुविधाय काञ्चित् ।
स्थाने कुमारीः प्रतिपाद्य सर्वा अरण्यसंस्थोऽथमुनिर्बुभूषेत् ॥३९॥

हितं यत्सर्वभूतानामात्मनश्च सुखावहम् ।
तत्कुर्यादीश्वरे ह्येतन्मूलं सर्वार्थसिद्धये ॥४०॥

धनों से सहायक प्राप्त होते हैं और सहायकों से धन प्राप्त होता है, ये दोनों एक दूसरे के परस्पर प्राप्त करने वाले हैं, इनमें एक दूसरे के विना दोनों सिद्ध नहीं होते हैं॥३८॥ पुत्रोंको पैदाकर उनको ऋण के भार से मुक्त करके उनके लिये कोई जीविका का प्रबन्ध कर दे, और इसी प्रकार समस्त कुमारी पुत्रियों का भी योग्य पतियों के साथ विवाह करके वन में मुनि वृत्ति से रहने की इच्छा करे॥३९॥ समस्त प्राणियों का हित और अपने को सुख देने वाले कर्म को ईश्वरार्पण बुद्धि से करे। क्योंकि राजा के लिये सर्वार्थ सिद्ध का यही मूल है॥४०॥

वृद्धिः प्रभावस्तेजश्च सत्त्वमुत्थानमेव च ।
व्यवसायश्च यस्य स्यात्तस्यावृत्तिभ्यं कुतः ॥४१॥

पश्य दोषान्पाण्डवैर्विग्रहे त्वं यत्र व्यथेयुरपि देवाः सशक्राः ।
पुत्रैर्वैरं नित्यमुद्विग्नवासो यशः प्रणाशो द्विषतश्च हर्षः ॥४२॥
भीष्मस्य कोपस्त्व चैवेन्द्रकल्प द्रोणस्य राज्ञश्च युधिष्ठिरस्य ।
उत्सादयेल्लोकमिमं प्रवृद्धः श्वेतो ग्रहस्तिर्यगिवापतन् खे ॥४३॥

जिसमें बढ़ने की शक्ति, प्रभाव, तेज, बल, उद्योग और निश्चय है, उसे अपनी जीविका का भय कैसे रह सकता है॥४१॥ हे राजन्! पांडवों के साथ युद्ध करने में जो दोष है, उन्हें देखिये। उनसे युद्ध छिड़ जाने पर इन्द्रादिक देवताओं को भी कष्ट ही उठाना पड़ेगा। एक तो पुत्रों के साथ वैर, दूसरा नित्य भयभीत होकर वास, तीसरा कीर्ति का नाश, चौथा वैरियों को हर्ष॥४२॥ हे राजन्! भीष्मजी का, इन्द्र के समान आपका, द्रोणाचार्य और युधिष्ठिर राजा का अति बढ़ा हुआ क्रोध इस समस्त लोक का नाश कर सकता है, जिस प्रकार धूमकेतु ग्रह आकाश में तिरछा होकर उदित हुआ समस्त लोकों का नाश कर देता है॥४३॥

तव पुत्रशतं चैव कर्णः पञ्च च पाण्डवाः ।
पृथिवीमनुशासेयुरखिलां सागरांबराम् ॥४४॥

धार्तराष्ट्रा वनं राजन् व्याघ्राः पाण्डुसुता मताः ।
मा वनं छिन्धिसव्याघ्रंमा व्याघ्रानीनशन्वनात् ॥४५॥
न स्याद्वनमृते व्याघ्रान् व्याघ्रा न स्युर्ऋते वनम् ।
वनं हि रक्ष्यते व्याघ्रैर्व्याघ्रान्नक्षति काननम् ॥४६॥
न तथेच्छन्ति कल्याणान्परेषां वेदितुं गुणान् ।
यथैषां ज्ञातुमिच्छन्ति नैर्गुण्यं पापचेतसः ॥४७॥

आपके सौ पुत्र, कर्ण और पांचों पांडव, ये सब मिलकर समुद्र पर्यन्त सब पृथ्वी का नाश कर सकते हैं॥४४॥ हे राजन्! दुर्योधनादिक तो वन हैं और पांडु के पुत्र व्याघ्र हैं, और आप व्याघ्रसहित वन को न तो काटिँये और न ही व्याघ्रों को वन से भगाइये॥४५॥ व्याघ्रों से विना वन नहीं रहता है और वन के बिना व्याघ्र नहीं रह सकते हैं क्योंकि व्याघ्रों से वन रक्षित रहता है और वन व्याघ्रों की रक्षा करता है॥४६॥ पापात्मा जन दूसरों के शुभगुण जानने को वैसी इच्छा नही करते हैं जैसी कि दूसरों की निर्गुणता जानने की इच्छा करते हैं॥४७॥

अर्थसिद्धिं परामिच्छन् धर्ममेवादितश्चरेत् ।
न हि धर्मादपैत्यर्थः स्वर्गलोकादिवामृतम् ॥४८॥
यस्यात्मा विरतः पापात्कल्याणे च निवेशितः ।
तेन सर्वमिदं बुद्धं प्रकृतिर्विकृतिश्च या ॥४९॥
यो धर्ममर्थं कामं च यथाकालं निषेवते ।
धर्मार्थकामसंयोगं सोऽमुत्रेह च विन्दति ॥५०॥
सन्नियच्छति यो वेगमुत्थितं क्रोधहर्षयोः ।
स श्रियो भाजनं राजन्यश्चापत्सु न मुह्यति ॥५१॥

उत्तम अर्थ सिद्धि को चाहनेवाला आदि से धर्म का सेवन करे क्योंकि धर्म से अर्थ पृथक् नहीं होता है जिस प्रकार कि स्वर्ग से अमृत पृथक् नहीं होता है॥४८॥ जिसकी बुद्धि पाप से हटाकर शुभ कर्म में लगा दी गई है, उसने प्रकृति, विकृति, सबको जान लिया है॥४९॥ जो धर्म, अर्थ और काम को काल के अनुसार सेवन करता है, वह इस लोक और परलोक दोनों में धर्म अर्थ और काम इन तीनों के संयोग को प्राप्त होता है॥५०॥ जो क्रोध और हर्ष इन दोनों के उठे हुए वेग को रोक

लेता है और जो आपत्तियों में धैर्य नहीं खोता है, हे राजन्! वही लक्ष्मी का पात्र होता है॥५१॥

बलं पञ्चविधं नित्यं पुरुषाणां निबोध मे ।
यत्तु बाहुबलं नाम कनिष्ठं बलमुच्यते ॥५२॥
अमात्यलाभो भद्रं ते द्वितीयं बलमुच्यते ।
तृतीयं धनलाभं तु बलमाहुर्मनीषिणः ॥५३॥
यत्त्वस्य सहजं राजन् पितृपैतामहं बलम् ।
अभिजातबलं नाम तच्चतुर्थं बलं स्मृतम् ॥५४॥
येन त्वेतानि सर्वाणि संगृहीतानि भारत ।
यद्बलानां बलं श्रेष्ठं तत्प्रज्ञाबलमुच्यते ॥५५॥

हे राजन्! आपका कल्याण हो, मनुष्यों में सदा पांच प्रकार का बल होता है, उसे सुनिये। जो बाहुबल है, वह सबसे छोटा बल कहलाता है, उत्तम उत्तम मंत्रियों का लाभ दूसरा बल है, तीसरा बल धन का लाभ है और हे राजन्! जो बाप दादाओं से प्राप्त मनुष्य का स्वाभाविक बल है वह कुटुम्ब बल है। चौथा बल है, जिसको अभिमान बल कहते हैं। हे भारत! जिससे इन सभी बलों का संग्रह हो जाता है और सभी बलों में श्रेष्ठ बल है वह 'बुद्धि बल' कहलाता है॥५२-५५॥

महते योपकाराय नरस्य प्रभवेन्नरः ।
तेन वैरं समासज्यदूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत्॥५३॥
स्त्रीषु राजसु सर्पेषु स्वाध्यायप्रभुशत्रुषु ।
भोगेष्वायुषि विश्वासं कः प्राज्ञः कर्तुमर्हति ॥५७॥
प्रज्ञाशरेणाभिहतस्य जन्तोश्चिकित्सकाः सन्ति न चौषधानि ।
न होममन्त्रा न च मङ्गलानि नाथर्वणा नागप्यदाः सुसिद्धाः ॥५८॥

जो मनुष्य का बड़ा भारी अपकार कर सकता है, उसके साथ वैर ठानकर ऐसा न विश्वास करे कि मैं उससे दूर हूँ, वह मेरा क्या कर सकता है॥५६॥ स्त्रियों में, राजाओं में, सर्पों में, पढ़े हुए पाठ में, समर्थशाली व्यक्ति में, शत्रु में, भोगविषयों में और शरीर की आयु में पूर्ण विश्वास कर सके, ऐसा कौन विद्वान् है॥५७॥ बुद्धिरूपी बाण द्वारा मारे गये मनुष्य के लिये, वैद्य, दवा, होम, मांगलिक कार्य, अथर्ववेद के

मन्त्र, तन्त्र, यन्त्रादि और ठीक प्रकार से सिद्ध की हुई जड़ी बूंटी, ये कुछ भी कारगर नही हैं।।५८।।

सर्पश्चाग्निश्च सिंहश्च कुलपुत्रश्च भारत ।
नावज्ञेया मनुष्येण सर्वे ह्येतेऽतिजेतसः ।।५९।।
अग्निस्तेजो महल्लोके गूढास्तिष्ठति दारुषु ।
न चोपयुंक्ते तद्दारु यावन्नोद्दीप्यते परैः ।।६०।।
स एव खलु दारुभ्यो यदा निर्मथ्य दीप्यते ।
तद्दारु च वनं चान्यान्निर्दहत्याशु तेजसा ।।६१।।
एवमेव कुले जाताः पावकोपमतेजसः ।
क्षमावन्तो निराकाराः काष्ठेऽग्निरिव शेरते।।६२।।

हे भारत! सर्प, अग्नि, सिंह, कुलपुत्र इनका तिरस्कार नहीं करना चाहिए क्योंकि ये समस्त अतितेजस्वी होते हैं।।५९।। संसार में जिस अग्नि का बड़ा भारी तेज होता है वह अग्नि काठ में छिपी रहती है, किन्तु उन काठ को तब तक नहीं जलाती है जब तक कि कोई दूसरा उसे प्रज्ज्वलित न कर दे।।६०।। जब कि काष्ठों में मथकर वह अग्नि प्रदीप्त कर दी जाती है तो उस काष्ठ को और अन्य वन को अपने तेज से शीघ्र ही जला देती है।।६१।। इसी प्रकार उत्तम कुल में उत्पन्न हुए कुलीन जन होते हैं, जिनका तेज अग्नि के समान होता है और क्षमावान् हुए निश्चेष्टित होकर रहते हैं जिस प्रकार कि काष्ठ में अग्नि रहती है।।६२।।

लताधर्मा त्वं सपुत्रः शालाः पाण्डुसुता मताः ।
न लता वर्धते जातु महाद्रुममनाश्रिता ।।६३।।
वनं राजस्तव पुत्रोऽम्बिकेय सिंहान्वने पाण्डवांस्तात विद्धि ।
सिंहैर्विहीनं हि वनं विनश्येत् सिंहा विनश्येयुर्ऋते वनेन ।।६४।।

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि
विदुरवाक्ये सप्तत्रिंशोऽध्यायः ।।३७।। [५]

हे राजन्! पुत्रोंसहित आप लता के समान हैं और पाण्डु के पुत्र शालवृक्ष हैं, महत् वृक्ष का आश्रय लिये बिना लता कदाचित् भी नहीं

बढ़ सकती है॥६६॥ हे आंबिकेय! आपके पुत्र वन हैं और उस वन में पाण्डवों के हे तात! आप सिंह जानिये, सिंहों से विहीन हुआ वन नष्ट हो जाता है और वन के बिना सिंह नष्ट हो जाते हैं॥६४॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरवाक्ये श्रीपाठक वंशावतंस–पंडितमङ्गलसेनात्मजकाशिरामविरचित–भाषातिलके सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥३७॥ [५]

*****

छठा अध्याय

विदुर उवाच

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आगते ।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते ॥१॥
पीठं दत्त्वा साधवेऽभ्यागताय आनीयापः परिनिर्णिज्य पादौ ।
सुखं पृष्ट्वा प्रतिवेद्यात्मसंस्थां ततो दद्यादन्नमवेक्ष्य धीरः ॥२॥
यस्योदकं मधुपर्कं च गां च न मन्त्रवित्प्रतिगृह्णाति गेहे ।
लोभाद्भयादथ कार्पण्यतो वा तस्यानर्थं जीवितमाहुरार्याः ॥३॥

विदुरजी कहते हैं–वृद्ध व्यक्ति के अपनी तरफ आते समय तरुणजन के प्राण ऊपर को उठने लगते हैं, फिर उस वृद्ध के स्वागत में उठकर खड़े होने व अभिवादन करने के बाद प्राण पुनः अपनी वास्तविक स्थिति को प्राप्त हो जाते हैं॥१॥ धीर पुरुष का कर्तव्य है कि जब कोई साधुपुरुष घर पर आवे तो पहले उसकोआसन देकर, जल लाकर उसके चरणों को धोवे, फिर कुशल पूछकर अपनी स्थिति बतावे,उसके बाद आवश्यकतानुसार भोजन करावे ॥२॥ जिसके घर में वेदवेत्ता अतिथि जल मधुपर्क और वाणी को दाना के लोभ वा कृपणता के कारण ग्रहण नहीं करता है उसके जीवन को आर्यजन व्यर्थ बतावे॥३॥

चिकित्सकः शल्यकर्तावकीर्णी स्तेनः क्रूरो मद्यपो भ्रूणहा च ।
सेनाजीवी श्रुतिविक्रायकश्च भृशं प्रियोप्यतिथिर्नोदकार्हः ॥४॥
अविक्रेयं लवणं पक्वमन्नं दधि क्षीरं मधु तैलं घृतं च ।
तिला मांसं फलमूलानि शाकं रक्तं वासः सर्वगन्धा गुडाश्च ॥५॥

चिकित्सा करनेवाला, चीर फाड़ करनेवाला, ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट, चोर, क्रूर, मदिरा पीनेवाला, गर्भपात करानेवाला, सेना से जीविका करनेवाला और वेद को बेचनेवाला, ये चरण धोने योग्य नहीं है तथापि अतिथि होकर आये तो आदर के योग्य होते हैं॥४॥ लवण, पका हुआ अन्न, दही, दूध, शहद, तैल, घृत, तिल, मांस, फल, साग, लाल कपड़ा, सब प्रकार की गन्ध और गुड़ ये बेचने योग्य नहीं हैं॥५॥

अरोषणो यः समलोष्टाश्मकाञ्चनः प्रहीणशोको गतसन्धिविग्रहः ।
निन्दाप्रशंसोपरतः प्रियाप्रिये त्यजन्नुदासीनवदेष भिक्षुकः ॥६॥
नीवारमूलेङ्गुदशाकवृत्तिः सुसंयुतात्माग्निकार्येषु चोद्यः ।
वने वसन्नतिथिष्वप्रमत्तो धुरन्धरः पुण्यकृदेष तापसः ॥७॥

जो कि किसी पर नहीं क्रोध करता है, जिसके एक समान ही लोहा पत्थर सुवर्ण है, जिसका शोक दूर हो गया है. जिसको सलाह करना तथा विग्रह करना,ये दोनों नहीं हैं,जो निन्दा और प्रशंसा दोनोंसे पृथक् है और जो उदासीन के समान प्रिय और अप्रिय दोनों को त्यागनेवाला है सो वही संन्यासी है॥६॥ जो जंगली चावल, कन्दमूल, इंगुदी और साग खाकर और जिसने मन का संयम किया है, जो अग्निहोत्र करता है, वन में रहकर भी अतिथियों के सत्कार में असावधान नहीं है और पुण्य करनेवाला है वही तपस्वी है॥७॥

अपकृत्य बुद्धिमतो दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ।
दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू याभ्यां हिंसति हिंसतः ॥८॥
न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ।
विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ॥९॥
अनीर्षुर्गुप्तदारश्च संविभागी प्रियंवदः ।
श्लक्ष्णो मधुरवाक् स्त्रीणां न चासां वशगो भवेत्॥१०॥

बुद्धिमान् का अपकार करके ऐसा न विश्वास करे कि मैं उससे दूर हूँ,

वह मेरा क्या कर सकता है, क्योंकि बुद्धिमान् की बाहु दीर्घ होती है, सताया जाने पर वह उन्हीं बाहुओं से बदला लेता है॥८॥ जो विश्वास के योग्य न होवे उसका विश्वास न करे और जो विश्वास के योग्य होवे उसका भी अतिविश्वास न करे, कारण कि विश्वास से उत्पन्न हुआ भय जड़ को भी काट देता है॥९॥ मनुष्य को चाहिये कि वह ईर्ष्यारहित स्त्रियों का रक्षक हो, संपत्तियों का यथायोग्य बंटवारा करनेवाला हो। प्रिय बोलनेवाला, कोमल स्वभाववाला, स्त्रियों के बीच मीठे वचन बोलनेवाला हो किन्तु उनके वश में न हो॥१०॥

पूजनीया महाभागाः पुण्याश्च गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियो गृहस्योक्तास्तस्माद्रक्ष्याविशेषतः॥११॥
पितुरन्तः पुरं दद्यान्मातुर्दद्यान्महानसम् ।
गोषु चात्मसमं दद्यात्स्वयेव कृषिं व्रजेत् ॥१२॥
भृत्यैर्वाणिज्यचारं च पुत्रैः सेवेत च द्विजान् ।
अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्त्रमश्मनो लोहमुत्थितम्॥१३॥

स्त्रियां पूजा करनेयोग्य, बड़े भाग्यवाली, पुण्यात्मा, गृह का प्रकाश और साक्षात् घर की लक्ष्मी पूर्वजों ने कही है, इसलिये स्त्रियों की विशेष कर रक्षा करनी चाहिये॥११॥ पिता के अधिकारमें अन्तःपुर अर्थात् स्त्रियों के रहने का स्थान दे, माता के अधिकार में रसोई का स्थान दे, गौ आदि पशुओं की रक्षा में अपने समान विश्वास किये हुए जन को नियुक्त करे और खेती का काम स्वयम् ही देखे॥१२॥ सेवकों द्वारा वाणिज्य-व्यापार करे, पुत्रों के द्वारा ब्राह्मणों की सेवा करे। ब्राह्मण से क्षत्रिय और पत्थर से लोह उत्पन्न हुआ है, इन अग्नि आदिकों का तेज सब जगह जाता है पर अपनी अपनी उत्पत्ति के स्थान में जाकर शान्त हो जाता है॥१३॥

तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ।
नित्यं सन्तः कुले जाताः पावकोपमतेजसः ॥१४॥
क्षमावन्तो निराकाराः काष्ठेऽग्निरिव शेरते ।
यस्य मंत्रं न जानन्ति बाह्याश्चाभ्यन्तराश्च ये॥१५॥

स राजा सर्वतश्चक्षुश्चिरमैश्वर्यमश्नुते ।
करिष्यन्न प्रभाषेत कृतान्येव तु दर्शयेत् ॥१६॥
धर्मकामार्थकार्याणि तथा मन्त्रो न भिद्यते ।
गिरिपृष्ठमुपारुह्य प्रासादं वा रहोगतः ॥१७॥

उत्तम कुल में उत्पन्न हुए सज्जन सदा अग्नि के समान तेजवाले होते हैं किन्तु क्षमा धारण किये निश्चेष्टित से हुए रहते हैं, जिस प्रकार कि काष्ठ में अग्नि निश्चेष्टित हुआ रहता है॥१४॥ जिस राजा की मंत्रणा को उसे अंतरंग व बहिरंग सभासद्गण तक नहीं जानते हैं, वह सब तरफ नेत्र रखनेवाला राजा बहुतकाल पर्यन्त ऐश्वर्य भोगता है॥१५॥ कार्य के करनेवाला कार्य होने से पूर्व ही उस कार्य को दूसरे से न कहे, किन्तु किये हुए धर्म, काम, अर्थ संबंधी कार्यों को दूसरों के लिये दिखावे, ऐसा करने पर मन्त्र भेद को प्राप्त नहीं होता है॥१६॥ पर्वत की चोटी अथवा राजमहल पर चढ़कर एकान्त स्थान में तृणों से न ढ़के हुए वन में जाकर सलाह करे क्योंकि मन्त्रवेत्ताओं ने पूर्वोक्त स्थानों में ही बैठकर सलाह करने के लिये कहा है॥१७॥

अरण्ये निःशलाके वा तत्र मन्त्रोऽभिधीयते ।
नासुहृत्परमं मन्त्रं भारतार्हति वेदितुम् ॥१८॥
अपण्डितो वापि सुहृत्पण्डितो वाप्यनात्मवान् ।
नापरीक्ष्य महीपालः कुर्यात्सचिवमात्मनः ॥१९॥
अमात्ये ह्यर्थलिप्सा च मंत्ररक्षणमेव च ।
कृतानि सर्वकार्याणि यस्य पारिषदा विदुः ॥२०॥
धर्मे चार्थे च कामे च स राजा राजसत्तमः ।
गूढमन्त्रस्य नृपतेस्तस्य सिद्धिरसंशयम् ॥२१॥

हे भारत! जो मित्र नहीं है वह सलाह को जानने योग्य नहीं होता है अथवा जो मित्र है पर मूर्ख है वह भी सलाह को जानने योग्य नहीं होता है और जो कि मित्र पंडित है पर चपलवाक् है वह भी सलाह को जानने योग्य नहीं होता है॥१८॥ पृथ्वी की रक्षा करनेवाला राजा बिना परीक्षा करे अपना मन्त्री न करे॥१९॥ क्योंकि सभा में बैठनेवाले भृत्यादिक जिसके किये हुए ही धर्म, अर्थ, काम सम्बन्धी कार्यों को

जानते हैं वह राजा राजाओं में उत्तम माना जाता है। जिस राजा की सलाह गुप्त रहती है उस राजा की सिद्धि निस्संशय होती है॥२०–२१॥

अप्रशस्तानि कार्याणि यो मोहादनुतिष्ठति ।
स तेषां विपरिभ्रंशाद् भ्रश्यते जीवितादपि ॥२२॥
कर्मणां तु प्रशस्तानामनुष्ठानं सुखावहम् ।
तेषामेवाननुष्ठानं पश्चात्तापकरं मतम् ॥२३॥
अनधीत्य यथा वेदान्न विप्रः श्राद्धमर्हति ।
एवमश्रुतषाड्गुण्यो न मंत्रं श्रोतुमर्हति ॥२४॥
स्थानवृद्धिक्षयज्ञस्य षाड्गुण्यविदितात्मनः ।
अनवज्ञातशीलस्य स्वाधीना पृथिवी नृप ॥२५॥

जो कि अशुभ कर्मों का मोह से सेवन करता है वह उन अशुभ कर्मों के भ्रष्ट होने से जीवित से भी भ्रष्ट हो जाता है॥२२॥ पूर्वजों ने उत्तम कर्मों का सेवन सुखदायक माना है और उन्हीं उत्तम कर्मों का असेवन पश्चात्ताप करनेवाला माना है॥२३॥ जिस प्रकार कि वेदों को न पढ़कर ब्राह्मण श्राद्ध के योग्य नहीं होता है उसी प्रकार जिसने कि सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रयण ये छः गुण नहीं जाने हैं, वह मन्त्र सुनने के योग्य नहीं होता है॥२४॥ हे नृप! जो कि राज्य की स्थिति और वृद्धि तथा क्षय के जाननेवाला है और जिसका कि, आत्मा संधि, विग्रह यान, आसन द्वैधभाव और समाश्रयण इन छः गुणों के जानने से प्रसिद्ध है और जो कि निंदितस्वभाव नहीं है पृथिवी उस राजा की स्वाधीन होती है॥२५॥

अमोघक्रोधहर्षस्य स्वयं कृत्यान्ववेक्षिणः ।
आत्मप्रत्ययकोशस्य वसुदैव वसुन्धरा ॥२६॥
नाममात्रेण तुष्येत छत्रेण च महीपतिः ।
भृत्येभ्यो विसृजेदर्थान्नैकः सर्वहरो भवेत् ॥२७॥
ब्राह्मणं ब्राह्मणो वेद भर्ता वेद स्त्रियं तथा ।
अमात्यं नृपतिर्वेद राजा राजानमेव च ॥२८॥
न शत्रुर्वशमापन्नो मोक्तव्यो वध्यतां गतः ।
न्यग्भूत्वा पर्युपासीत वध्यं हन्याद्बले सति ।

अहताद्धि भयं तस्माज्जायते न चिरादिव ॥२९॥

जिसका क्रोध होना और हर्ष होना निष्फल नहीं होता है और जो स्वयं अपने भृत्यादिकों के किये हुए कार्यों के देखनेवाला है और जिसने स्वयं ही अपनी दृष्टिमात्र से अपना खजाना जाना है पृथिवी उस राजा को धन देनेवाली होती है॥२६॥ राजा केवल अपने नाममात्र से तथा छत्र से ही सन्तुष्ट रहे और अपने हाथ से इकट्ठे किये धनादिकों को भृत्यादिकों के लिये यथायोग्य दे दे और उन समस्त धनादिकों का भोगनेवाला अकेला ही न हो॥२७॥ ब्राह्मण ब्राह्मण को जानता है भर्त्ता स्त्री को जानता है राजा मन्त्री को जानता है और राजा राजा को भी जानता है॥२८॥ बन्धन को प्राप्त होकर वश को प्राप्त हुआ शत्रु नहीं छोड़ने योग्य है किन्तु उस बँधे हुए शत्रु को तिरछा होकर ही सबकाल में देखता रहे और यदि अपना बल हो तो उसको मार भी डाले॥२९॥

दैवतेषु प्रयत्नेन राजसु ब्राह्मणेषु च ।
नियन्तव्यः सदा क्रोधो वृद्धबालातुरेषु च ॥३०॥
निरर्थं कलहं प्राज्ञो वर्जयेन्मूढसेवितम् ।
कीर्तिं च लभते लोके न चानर्थो न युज्यते ॥३१॥
प्रसादो निष्फलो यस्य क्रोधश्चापि निरर्थकः ।
न तं भर्तारमिच्छन्ति षण्ढं पतिमिव स्त्रियः ॥३२॥
न बुद्धिर्धनलाभाय न जाड्यमसमृद्धये ।
लोकपर्यायवृत्तान्तं प्राज्ञो जानाति नेतरः ॥३३॥

देवता राजा, ब्राह्मण और वृद्ध तथा बालक और आतुर इनके बारे में सदैव यत्न से क्रोध रोकने योग्य है॥३०॥ जो कि मूर्खों द्वारा सेवन किया जाता है उस निरर्थक कलह को जो बुद्धिमान् है वह त्याग देता है वह संसार में कीर्ति पाता है और अनर्थ से कभी युक्त नहीं होता है॥३१॥ जिसकी प्रसन्नता निष्फल होती है और क्रोध भी निरर्थक होता है उस राजा को प्रजा अपना भर्त्ता करना नहीं चाहती है जिस प्रकार कि स्त्रियाँ नपुंसक को अपना भर्त्ता करना नहीं चाहती हैं॥३२॥ मनुष्य की बुद्धि धन लाभ के लिये नहीं होती है और न मूर्खता दरिद्रता

के लिये होती है किन्तु धन के मिलने में और दरिद्रता होने में पर्यायवृत्तान्त अर्थात् इस लोक में जो कि परलोक वाला कर्मफल है उसको बुद्धिमान् जानता है और अन्य मूर्ख नहीं जानता है। भाव यह है न तो मनुष्य की बुद्धि से धन होता है और न मूर्खता से दरिद्रता किन्तु धन मिलना और दरिद्रता ये दोनों पूर्वकर्मफल के आधीन है ऐसा बुद्धिमान् जन जानता है न कि मूर्ख॥३३॥

विद्याशीलवयोवृद्धान् बुद्धिवृद्धांश्च भारत ।
धनाभिजातवृद्धांश्च नित्यं मूढोऽवमन्यते ॥३४॥
अनार्यवृत्तमप्राज्ञमसूयकमधार्मिकम् ।
अनर्थाः क्षिप्रमायान्ति वाग्दुष्टं क्रोधनं तथा॥३५॥
अविसंवादनं दानं समयस्याव्यतिक्रमः।
आवर्तयन्ति भूतानि सम्यक् प्रणिहिता च वाक् ॥३६॥

हे भारत! जो कि विद्या और शील और अवस्था से वृद्ध है और जो कि बुद्धि से वृद्ध है और जो कि धन और कुल से वृद्ध है उनका मूढ़ जन सदा ही अवमान करता रहता है॥३४॥ जो कि श्रेष्ठ आचारवाला नहीं है और जो कि मूर्ख है और जो कि निन्दक है और जो कि धर्मज्ञ नहीं है और जो कि वचन बोलने में दुष्ट है और जो कि क्रोधस्वभाव वाला है उसके अति अनर्थ शीघ्र ही आ जाते हैं॥३५॥ प्रियवचन वर्जित दान और मर्यादा का न उल्लंघन करना और भली प्रकार सुन्दर कही हुई वाणी यह प्राणियों को अपना बना लेते हैं॥३६॥

अविसंवादको दक्षः कृतज्ञो मतिमानृजुः ।
अपि संक्षीणकोशोऽपि लभते परिवारणम् ॥३७॥
धृतिः क्षमो दमः शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा ।
मित्राणां चानभिद्रोहः सप्तैताः समिधः श्रियः ॥३८॥
असंविभागी दुष्टात्मा कृतघ्नो निरपत्रपः ।
तादृङ् नराधिपो लोके वर्जनीयो नराधिप ॥३९॥

जो अप्रिय वचन को न बोलने वाला तथा समस्त कार्यों में चतुर और उपकार को जानने वाला तथा बुद्धिमान् और कोमलस्वभाव है वह यदि निर्धन भी हो तब भी भृत्यमित्रादिकों को प्राप्त होता है अर्थात् ऐसे जन

को निर्धन होने पर भी बहुत से भृत्य मित्रादि हो जाते हैं॥३७॥ धैर्य, शान्ति, इंद्रियों का वश में करना, दया, मधुरवाक्य और मित्रों से वैर न करना ये लक्ष्मी को बढ़ाने वाले हैं॥३८॥ हे नरराज! जो भृत्यादिकों के लिये न देकर स्वयं ही भोगता है और जो कि दुष्टचित्त है और उपकार को दूर करने वाला है और जो कि निर्लज्ज है तादृश राजा त्यागने योग्य होता है॥३९॥

न च रात्रौ सुखं शेते ससर्प इव वेश्मनि ।
यः कोपयति निर्दोषं सदोषोऽभ्यन्तरं जनम्॥४०॥
येषु दुष्टेषु दोषः स्याद्योगक्षेमस्य भारत ।
सदा प्रसादनं तेषां देवतानामिवाचरेत् ॥४१॥
येऽर्थाः स्त्रीषु समायुक्ताः प्रमत्तपतितेषु च ।
ये चानार्ये समासक्ताः सर्वे ते संशयं गताः ॥४२॥
यत्र स्त्री यत्र कितवो बालो यत्रानुशासिता ।
मज्जन्ति तेऽवशा राजन्नद्यामश्मप्लवा इव ॥४३॥

वह रात्रि में सुखपूर्वक नहीं सोता है, जिस प्रकार कि सर्प वाले घर में नहीं सोता है, जो कि आप दोषयुक्त होकर भी निर्दोष मनुष्य के अन्तःकरण को क्रोध कराता है॥४०॥ हे भरतवंशीय! जो दुष्ट अपनी आजीविकादिक दूर कर सकते हों, उनकी प्रसन्नता सदैव देवताओं की तरह करे॥४१॥ जो धनादिक अर्थ स्त्रियों के, मतवाले वा पतितों के हाथों सौंप दिये जाते हैं वे संशय में पड़ जाते हैं॥४२॥ हे राजन्! जहां का शासन स्त्री, जुआरी अथवा बालक के हाथ में हो, वहां के लोग उसी तरह विपत्ति में डूब जाते हैं, जिस तरह की नदी में पत्थरों की नाव डूब जाती है॥४३॥

प्रयोजनेषु ये सक्ता न विशेषेषु भारत ।
तानहं पण्डितान्मन्ये विशेषा हि प्रसङ्गिनः ॥४४॥
यं प्रसन्ति कितवा यं प्रशंसन्ति चारणाः ।
यं प्रशंसन्ति बन्धक्यो न स जीवति मानवः ॥४५॥
हित्वा तान्परमेष्वासान्पाण्डवानमितौजसः ।
आहितं भारतैश्वर्यं त्वया दुर्योधने महत् ॥४६॥

तं द्रक्ष्यसि परिभ्रष्टं तस्मात्त्वमचिरादिव ।
ऐश्वर्यमदसंमूढं बलिं लोकत्रयादिव ॥४७॥

हे भारत! जो जन प्रयोजन वाले कार्यों में ही आसक्त रहते हैं न कि व्यर्थ कार्यों में, उनको मैं पंडित मानता हूँ, क्योंकि जो कारण के विना ही कार्य करते हैं वह व्यर्थ हैं॥४४॥ जुएबाज जिसकी प्रशंसा करते हैं, दूतजन जिसकी प्रशंसा करते हैं और व्यभिचारिणी स्त्रियां जिसकी प्रशंसा करती हैं वह मनुष्य नहीं जीता है॥४५॥ हे भारत! बड़े बड़े श्रेष्ठ धनुष वाले और अतुल पराक्रमी पांडवों को त्यागकर आपने महत् ऐश्वर्य का भार दुर्योधन पर रख दिया है॥४६॥ इसलिये आप थोड़े ही काल में उसको ऐश्वर्य से भ्रष्ट हुआ देखेंगे, जिस प्रकार कि, ऐश्वर्य मद से प्रमत्त हुए बलि को तीनों लोकों से भ्रष्ट हुआ सारे संसार ने देखा॥४७॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि
विदुरहितवाक्येऽष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥४८॥ (६)

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरवाक्ये
श्रीपाठकवंशावतंसपंडितमंगलसेनात्मजकाशिरामविरचित
भाषातिलकेऽष्टात्रिंशोध्यायः ॥३८॥ [६]

*****

सातवाँ अध्याय

धृतराष्ट्र उवाच

अनीश्वरोऽयं पुरुषो भवाभवे सूत्रप्रोता दारुमयीव योषा ।
धात्रा तु दिष्टस्य वशे कृतोऽयंतस्माद्वद त्वं श्रवणे धृतोऽहम् ॥१॥

धृतराष्ट्र ने कहा–हे विदुर! यह पुरुष ऐश्वर्य तथा अनैश्वर्य्य दोनों में इस प्रकार असमर्थ है जिस प्रकार कि सूत में बांधी हुई काठ की बनी

स्त्री असमर्थ होती है क्योंकि विधाता ने इससे भाग्य के वश में पहिले से ही कर दिया है। इसलिये आप कहते चलो, मैं सुनने के लिये सावधान होकर बैठा हूँ।।१।।

विदुर उवाच

अप्राप्तकालं वचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन् ।
लभते बुद्धयवज्ञानमवमानं च भारत ।।२।।
प्रियो भवति दानेन प्रियवादेन चापरः ।
मंत्रमूलबलेनान्यो यः प्रियः प्रिय एव सः ।।३।।
द्वेष्यो न साधुर्भवति न मेधावी न पण्डितः ।
प्रिये शुभानि कार्याणि द्वेष्ये पापानि चैव ह ।।४।।
उक्तं मया जातमात्रेऽपि राजन्दुर्योधनं त्यज पुत्रं त्वमेकम्
तस्यत्यागात्पुत्रशतस्यवृद्धिरस्यात्यागात्पुत्रशतस्यनाशः ।।५।।

विदुरजी बोले, हे भारत! जिसके कहने का समय ही विद्यमान नहीं है उस वचन को कहते हुए साक्षात् बृहस्पतिजी भी बुद्धि की अवज्ञा और निरादर को प्राप्त हो सकते हैं।।२।। कोई आदमी दान व प्रिय बोलने से प्रिय हो सकता है, तो कोई दूसरा मंत्र और धनादि बल से प्रिय हो सकता है, किन्तु जो प्रिय है, वह दान और प्रियवचन आदि के विना ही प्रिय रहता है।।३।। जो जिसका वैरी होता है वह यदि साधु और बुद्धिमान् तथा पंडित भी हो तब भी उसकी दृष्टि से वह न साधु है न बुद्धिमान् है न पंडित है। प्रिय के तो सभी कार्य शुभ ही दीखते हैं और वैरी के अच्छे भी कार्य अशुभ दीखते हैं।।४।। हे राजन्! जब दुर्योधन उत्पन्न ही हुआ थां, तभी मैंने आपसे कहा था कि आप इस अकेले दुर्योधन को त्याग दीजिये, इसके त्यागने से सौ पुत्रों की वृद्धि होगी और न त्यागने से आपके सौ पुत्रों का नाश हो जायगा।।५।।

न वृद्धिर्बहु मन्तव्या या वृद्धिः क्षयमावहेत् ।
क्षयोऽपि बहु मन्तव्यो यः क्षयो वृद्धिमावहेत् ।।६।।
न स क्षयो महाराजः यः क्षयो वृद्धिमावहेत्।
क्षयः स त्विह मन्तव्यो यं लब्ध्वा बहु नाशयेत् ।।७।।

समृद्धा गुणतः केचिद्भवन्ति धनतोऽपरे ।
धनवृद्धान्गुणैर्हीनान्धृतराष्ट्र विवर्जय ॥८॥

वह वृद्धि बहुत नहीं माननी चाहिये जो वृद्धि नाश की ओर ले जाती है और उस क्षय का भी आदर करना चाहिये जो अभ्युदय का कारण बने॥६॥ हे महाराज! वह नाश नहीं है जो नाश कि वृद्धि को प्राप्त करे, बल्कि नाश वह मानना चाहिये जिसको पाकर बहुतों को नाश होवे॥७॥ हे धृतराष्ट्र! कोई तो गुणों से समृद्ध होते हैं और कोई धनों से जो धनों से तो समृद्ध हैं किन्तु गुणों से हीन हैं, उनको आप त्याग दीजिये॥८॥

धृतराष्ट्र उवाच

सर्वं त्वमायतीयुक्तं भाषसे प्राज्ञसंमतम् ।
न चोत्सहे सुतं त्यक्तुं यतो धर्मस्ततो जयः ॥९॥

विदुर उवाच

अतीव गुणसपंन्नो न जातु विनयान्वितः ।
सुसूक्ष्ममपि भूतानामुपमर्दमुपेक्षते ॥१०॥
परापवादनिरताः परदुःखोदयेषु च ।
परस्परविरोधे च यतन्ते सततोत्थिताः ॥११॥
सदोषं दर्शनं येषां संवासे सुमहद्भयम् ।
अर्थादाने महान्दोषः प्रदाने च महद्भयम् ॥१२॥

धृतराष्ट्र ने कहा—हे विदुर! परिणाम में हित करने वाला और पंडितों के मानने योग्य वचन आप कह रहे हैं और यह भी सुन रखा है कि जिस ओर धर्म होता है उसी पक्ष की जीत होती है, किन्तु तब भी मैं अपने बेटे का त्याग नहीं कर सकता॥९॥ विदुरजी बोले—अधिक गुणों से सम्पन्न विनयी व्यक्ति प्राणियों का तनिक भी संहार होतें देख, उनकी उपेक्षा नहीं कर सकता॥१०॥ जो परायी निन्दा में लगे रहते हैं, दूसरों को दुःख देने और आपस में फूट डालने के लिये सदा उत्साह के साथ प्रयत्न करते हैं, जिनका दर्शन भी दोष से भरा होता है, जिनके साथ रहने में भी बहुत बड़ा खतरा है, ऐसे लोगों से धन लेने में महान् दोष है और देने में बहुत बड़ा खतरा है॥११-१२॥

ये वै भेदनशीलास्तु सकामा निस्त्रपाः शठाः ।
ये पापा इति विख्याताः संवासे परिगर्हिताः ॥१३॥
युक्ताश्चान्यैर्महादोषैर्ये नरास्तान् विवर्जयेत् ।
निवर्तमाने सौहार्दे प्रीतिर्नीचे प्रणश्यति ॥१४॥

जो परस्पर भेद कराने वाले हैं, कामी, निर्लज्ज, मूर्ख, तथा विख्यात पापी हैं, ऐसे व्यक्ति साथ रखने योग्य नहीं हैं॥१३॥ उपर्युक्त दोषों के अतिरिक्त अन्य महादोषों से युक्त मनुष्यों को भी त्याग देना चाहिये। सौहार्द भाव न रहने पर नीच पुरुषों का प्रेम नष्ट हो जाता है, उस सौहार्द से होने वाले फल की सिद्धि और सुख का भी नाश होता है॥१४॥

या चैव फलनिर्वृत्तिः सौहृदे चैव यत्सुखम् ।
यतते चापवादाय यत्नमारभते क्षये ॥
अल्पेऽप्यपकृते मोहान्न शान्तिमधिगच्छति ॥१५॥
तादृशैः सङ्गतं नीचैर्नृशंसैरकृतात्मभिः ।
निशम्य निपुणं बुद्धया विद्वान्दूराद्विवर्जयेत् ॥१६॥
यो ज्ञातिमनुगृह्णाति दरिद्रं दीनमातुरम् ।
स पुत्रपशुभिर्वृद्धिं श्रेयश्चानन्त्यमश्नुते ॥१७॥
ज्ञातयो वर्धनीयास्तैर्य इच्छन्त्यात्मनः शुभम् ।
कुलवृद्धिं च राजेन्द्र तस्मात्साधु समाचर ॥१८॥

किंतु वह नीच थोड़ा सा ही अपकार होने पर मित्र की निन्दा के लिये ही यत्न करता है और उस मित्र के नाश के निमित्त भी यत्न आरम्भ करता है और मोह से शांति को नहीं प्राप्त होता है॥१५॥ इस कारण तादृश नीच और क्रूर तथा अकृतात्मा जनों के साथ संगति को औरों से सुनकर तथा स्वयं जानकर विद्वान् दूर से त्याग दे॥१६॥ जो कि अपनी जाति वाले दरिद्र तथा दीन और रोगीजन को अनुगृहीत करता है वह पुत्र, पशुओं की वृद्धि और अनन्त कल्याण को भोगता है॥१७॥ जो जन आत्मा का कल्याण चाहते हैं, उन्हें अपने जाति, भाइयों को उन्नतिशील बनाना चाहिये, इसलिये आप भली भांति अपने कुल की वृद्धि करें॥१८॥

श्रेयसा योक्ष्यते राजन्कुर्वाणो ज्ञातिसत्क्रियाम् ।।१९।।
विगुणा ह्यपि संरक्ष्या ज्ञातयो भरतर्षभ ।
किं पुनर्गुणवन्तस्ते त्वत्प्रसादाभिकांक्षिणः ।।२०।।
प्रसादं कुरु वीराणां पाण्डवानां विशांपते ।
दीयन्तां ग्रामकाः केचित्तेषां वृत्यर्थमीश्वर ।।२१।।
एवं लोके यशः प्राप्तं भविष्यति नराधिप ।
वृद्धेन हि त्वया कार्यं पुत्राणां तात शासनम् ।।२२।।
मया चापि हितं वाच्यं विद्धि मां त्वद्धितैषिणम् ।

हे राजन्! जातिवाले का सत्कार करता हुआ जन कल्याण युक्त होगा, इसमें कुछ संशय नहीं।।१९।। भरतश्रेष्ठ! गुणवर्जित भी जातिवाले रक्षा करने योग्य हैं फिर क्या कारण है कि आपकी प्रसन्नता की आकांक्षा रखने वाले और गुणवान् वे पांडव जन रक्षा करने योग्य नहीं।।२०।। इसलिये हे राजन्! वीर पांडवों को प्रसन्न करिये, हे ईश्वर! उनकी वृद्धि के लिये कुछ थोड़े से ग्राम आप उनको दे दीजिये।।२१।। हे नराधिप! ऐसा करने से तुमको संसार में यश प्राप्त होगा, हे तात! वृद्ध को अपने पुत्रों पर शासन करना चाहिये।।२२।। मेरे कहे हुए वचन को हित कारक जानिये और मुझको अपना हितैषी समझिये।

ज्ञातिभिर्विग्रहस्तात न कर्तव्यः शुभार्थिना ।
सुखानि सहभोज्यानि ज्ञातिभिर्भरतर्षभ ।।२३।।
संभोजनं संकथनं संप्रीतिश्च परस्परम् ।
ज्ञातिभिः सह कार्याणि न विरोधः कदाचन ।।२४।।
ज्ञातयस्तारयन्तीह ज्ञातयो मज्जयन्ति च ।
सुवृत्तास्तारयन्तीह दुर्वृत्ता मज्जयन्ति च ।।२५।।
सुवृतो भव राजेन्द्र पाण्डवान्प्रति मानद ।
अधर्षणीयः शत्रूणां तैर्वृतस्त्वं भविष्यसि ।।२६।।

हे तात! जातिवालों के साथ विरोध, कल्याण चाहने वाले को नहीं करना चाहिये किन्तु हे भरतश्रेष्ठ! जातिवालों के साथ सुख भोगने चाहिये।।२३।। परस्पर भोजन और परस्पर कथन और परस्पर प्रीति यह जातिवालों के साथ करने चाहिये। विरोध कदाचित् भी न करना

चाहिये।।२४।। इस संसार में जातिवाले ही तार देते हैं और जातिवाले ही डुबा देते हैं। उनमें जो सुन्दर आचारवाले होते हैं वह तार देते हैं और दुराचारी डुबा देते हैं।।२५।। इसलिये हे राजेन्द्र! पाण्डवों के प्रति श्रेष्ठ आचारवाले बनिये। हे मानद! उन पाण्डवों से युक्त हुए आप वैरियों द्वारा तिरस्कार करने योग्य नहीं रहोगे अर्थात् पाण्डवों के साथ रहने में आपका वैरी तिरस्कार नहीं कर सकेंगे।।२६।।

श्रीमन्तं ज्ञातिमासाद्य यो ज्ञातिरवसीदति ।
दिग्धहस्तं मृग इव स एनस्तस्य विन्दति ।।२७।।
पश्चादपि नरश्रेष्ठ तव तापो भविष्यति ।
तान्वा हतान्सुतान्वापि श्रुत्वा तदनुचिन्तय।।२८।।
येन खट्वां समारूढः परितप्येत कर्मणा ।
आदावेव न तत्कुर्यादध्रुवे जीविते सति ।।२९।।
न कश्चिन्नापनयते पुमानन्यत्र भार्गवात् ।
शेषसंप्रतिपत्तिस्तु बुद्धिमत्स्वेव तिष्ठति ।।३०।।

सम्पत्ति वाले अपने जाति बन्धु के पास जाकर भी जो जातीय बन्धु कष्ट पाता है, वह सम्पत्तिवाला जाति बन्धु उसके पाप का भागी होता है, जिस प्रकार कि विषैले बाण हाथ में लिये व्याध के पास पहुँचकर जैसे मृग को कष्ट भोगना पड़ता है भाव यह है कि जैसे व्याध मृग को मार देता है तैसे ही कष्ट पाने वाले ज्ञाति के पाप से सम्पत्तिवाला ज्ञाति पीड़ित होता है।।२७।। हे नरश्रेष्ठ! उन पाण्डवों के हाथ अपने पुत्रों को मरा सुन उनकी चिन्ता कर आपको बाद में संताप होगा।।२८।। नीतिशास्त्र के बनाने वाले शुक्राचार्य्य के विना कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है जो नीति का उल्लंघन नहीं करता, इस जीवन का कोई भरोसा नहीं। जिस काम को करने से बाद में खाट पर बैठकर पछताना पड़े, उसके पहले ही नहीं करना चाहिये।।२९।। अतः जो बीत गया सो बीत गया। अब शेष रहे कर्तव्य का विचार आप जैसे बुद्धिमान् पुरुषों पर ही निर्भर है।।३०।।

दुर्योधनेन यद्येतत्पापं तेषु पुरा कृतम् ।
त्वया तत्कुलवृद्धेन प्रत्यानेयं नरेश्वर ।।३१।।

तांस्त्वं पदे प्रतिष्ठाप्य लोके विगतकल्मषः ।
भविष्यसि नरश्रेष्ठ पूजनीयो मनीषिणाम् ॥३२॥
सुव्याहृतानि धीराणां फलतः परिचिंत्य यः ।
अध्यवस्यति कार्येषु चिरं यशसि तिष्ठति ॥३३॥
असम्यगुपयुक्तं हि ज्ञानं सुकुशलैरपि ।
उपलभ्यं चाविदितं विदितं चाननुष्ठितम् ॥३४॥

हे नरेश्वर! जो पाप दुर्योधन ने उन पाण्डवों के प्रति पहले किया है, तो आपको उसे मिटाना चाहिये, क्योंकि आप कुलके बड़े बूढ़े हैं॥३१॥ हे नरश्रेष्ठ! उन पांडवों को राज्यपद पर बैठाकर आप निष्पाप होकर बुद्धिमानों के पूजने योग्य होवोगे॥३२॥ जो धीरजनों के सुन्दर कहे हुए वचनों को अर्थ से विचार करके कार्यस्वरूप में परिणत करता है, वह बहुत काल पर्यन्त यथार्थभागी बना रहता है॥३३॥ पण्डितों द्वारा उपदेश किया हुआ ज्ञान व्यर्थ ही हो जाता है जब कि जानने योग्य होकर भी नहीं जाना गया है और जाना हुआ भी व्यर्थ हो जाता है जब कि नहीं सेवन किया है॥३४॥

पापोदयफलं विद्वान् यो नारभति वर्धते ।
यस्तु पूर्वकृतं पापमविमृश्यानुवर्तते ।
अगाधपङ्के दुर्मेधा विषमे विनिपात्यते ॥३५॥
मन्त्रभेदस्य षट् प्राज्ञो द्वाराणीमानि लक्षयेत् ।
अर्थसन्ततिकामश्च रक्षेदेतानि नित्यशः ॥३६॥
मदं स्वप्नमविज्ञानमाकारं चात्मसम्भवम् ।
दुष्टामात्येषु विश्रम्भं दूताच्चाकुशलादपि ॥३७॥
द्वाराण्येतानि यो ज्ञात्वा संवृणोति सदा नृप ।
त्रिवर्गाचरणे युक्तः स शत्रूनधितिष्ठति ॥३८॥

जिसका कि फल पाप के उदय करने वाला है उस कर्म को जो विद्वान् है वह आरम्भ नहीं करता है, वह वृद्धि को प्राप्त होता है जो कि पूर्व किये हुए पाप को नहीं विचारकर पाप को ही निरन्तर करता रहता है वह कुबुद्धि गहरी कीचवाले विषम नरक में गिराया जाता है॥३५॥ मन्त्र के भेद होने के छः द्वार हैं इनको बुद्धिमान् जन को मानना चाहिये छः

द्वारों को जाने और धन को सुरक्षित रखने की इच्छा से इन्हें सदा बंद रखे।।३६।। मदिरापान, अतिनिद्रा, दूसरे के गुप्त दूत के हृदय की वार्ता का न जानना, अपने नेत्रमुख विकारादि चेष्टा दुष्ट मन्त्रियों में विश्वास जो दूत चतुर न होवे उस पर भी विश्वास होना।।३७।। हे नृप! इन छः द्वारों को जानकर जो सदैव मूँदता रहता है वह धर्मार्थ काम के सेवन करने में युक्त हुआ जन शत्रुओं के ऊपर स्थित होता है।।३८।।

न वै श्रुतमविज्ञाय वृद्धाननुपसेव्य वा ।
धर्मार्थौ वेदितुं शक्यौ बृहस्पतिसमैरपि ।।३९।।
नष्टं समुद्रे पतितं नष्टं वाक्यमशृण्वति ।
अनात्मनि श्रुतं नष्टं नष्टं हुतमनग्निकम् ।।४०।।
मत्या परीक्ष्य मेधावी बुद्धया संपाद्य चासकृत् ।
श्रुत्वा दृष्ट्वाथ विज्ञाय प्राज्ञैर्मैत्रीं समाचरेत् ।।४१।।

शास्त्र को न जानकर और वृद्धों की सेवा ना कर बृहस्पति के समान मनुष्य भी धर्म और अर्थ का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते।।३९।। समुद्र में गिरा हुआ नष्ट होता है और नहीं सुनने वाले को कही हुई बात नष्ट होती है, निर्बुद्धि का शास्त्र, ज्ञान नष्ट होता है और राख में किया हुआ हवन नष्ट होता है।।४०।। प्रथम बुद्धि से परीक्षा कर फिर बुद्धि से बारंबार २ उसके तत्व को विचारकर और दूसरों से सुनकर और दृष्टि देखकर और स्वयं जानकर पण्डितजनों के साथ मित्रता करे।।४१।।

अकीर्तिं विनयो हन्ति हन्त्यनर्थं पराक्रमः ।
हन्ति नित्यं क्षमाक्रोधमाचारो हन्त्यलक्षणम् ।।४२।।
परिच्छेदनक्षेत्रेण वेश्मना परिचर्यया ।
परीक्षेत कुलं राजन्भोजनाच्छादनेन च ।।४३।।
उपस्थितस्य कामस्य प्रतिवादो न विद्यते ।
अपि निर्मुक्तदेहस्य कामरक्तस्य किं पुनः ।।४४।।
प्राज्ञोपसेविनं वैद्यं धार्मिकं प्रियदर्शनम् ।
मित्रवन्तं सुवाक्यं च सुहृदं परिपालयेत् ।।४५।।

विनय अकीर्ति का नाश करती है, पराक्रम अनर्थ को दूर कर देता है, क्षमा सदैव क्रोध का नाश कर देती है और आचार कुलक्षण का नाश

कर देता है॥४२॥ भोगनेयोग्य वस्तु सामग्री, क्षेत्र, गृह, सेवा, भोजन और वस्त्र, इनसे कुल की परीक्षा करे॥४३॥ देहाभिमान रहित मनुष्य के पास भी यदि न्याययुक्त पदार्थ स्वतः उपस्थित हो तो वह उसका विरोध नहीं करना, फिर कामासक्त मनुष्य का तो कहना ही क्या॥४४॥ विद्वानों की सेवा करनेवाला वैद्य, धार्मिक, प्रियदर्शन वाला, मित्रों से युक्त और अच्छा बोलनेवाला, ऐसे मित्र की सदैव रक्षा करे॥४५॥

दुष्कुलीनः कुलीनो वा मर्यादां यो न लङ्घयेत् ।
धर्मापेक्षी मृदु ह्रीमान्स कुलीनशताद्वरः ॥४६॥
ययोश्चित्तेन वा चित्तं निभृतं निभृतेन वा ।
समेति प्रज्ञया प्रज्ञा तयोर्मैत्री न जीर्यति ॥४७॥
दुर्बुद्धिमकृतप्रज्ञं छन्नं कूपं तृणैरिव ।
विवर्जयीत मेधावी तस्मिन्मैत्री प्रणश्यति ॥४८॥
अवलिप्तेषु मूर्खेषु रौद्रसाहसिकेषु च ।
तथैवापेतधर्मेषु न मैत्रीमाचरेद्बुधः ॥४९॥

दुष्कुलीन हो वा कुलीन हो जो कि मर्यादा को उल्लंघन न करे और धर्म को चाहनेवाला तथा कोमलस्वभाव और लज्जावान् हो वह सौ कुलीनों से भी श्रेष्ठ होता है जिन दोनों के मध्य चित्त से चित्त और गुप्तमन्त्रादि से गुप्तमन्त्रादिक और बुद्धि से बुद्धि समान मिलती हो, उन दोनों की मित्रता कदापि नहीं दूर होती है॥४६-४७॥ जो कि दुर्बुद्धि है और किये हुए उपकार को नहीं जानता है और छल छिद्रादिक से इस प्रकार ढका रहता है जिस प्रकार कि तृणों से कूप। ऐसे जन को बुद्धिमान् लोग त्याग दे, क्योंकि उससे की हुई मित्रता नष्ट हो जाती है॥४८॥ जो कि अति, गर्विष्ठ, मूर्ख, क्रोधी और नहीं विचारकर कार्य करनेवाले हैं और जिन्होंने धर्म त्याग दिया है उनसे पण्डितजन मित्रता न करें॥४९॥

कृतज्ञं धार्मिकं सत्यमक्षुद्रं दृढभक्तिकम् ।
जितेन्द्रिय स्थितं स्थित्यां मित्रमत्याति चेष्यते ॥५०॥
इन्द्रियाणामनुत्सर्गो मृत्युनापि विशिष्यते ।
अत्यर्थं पुनरुत्सर्गः सादयेद्दैवतानपि ॥५१॥

मार्दवं सर्वभूतानामनसूया क्षमा धृतिः ।
आयुष्याणि बुधाः प्राहुर्मित्राणां चाविमानता ॥५२॥
अपनीतं सुनीतेन योऽर्थं प्रत्यानिनीषते ।
मतिमास्थाय सुदृढं तदकापुरुषव्रतम् ॥५३॥

अपने पर किये उपकार को जाननेवाला, धर्मात्मा, सत्य बोलनेवाला, क्षुद्रताहीन, दृढ़ भक्तिवाला, जितेन्द्रिय, मर्यादा में रहनेवाला और मैत्री का त्याग न करनेवाला, ऐसे मित्र को सभी चाहते हैं॥५०॥ इंद्रियों को विषयों से निवृत्त करना, मृत्यु से भी विशेष है अर्थात् इंद्रियों को विषयों से रोकना मृत्यु के कष्ट से भी अधिक कष्टकारक है। जो कि अत्यन्त इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्ति करता है वह देवताओं का भी नाश कर देता है॥५१॥ कोमलस्वभाव होना और समस्त प्राणियों की निन्दा न करना और सहनशील होना और धैर्य और मित्रों का अपमान न करना, ये समस्त आयु के बढ़ानेवाले हैं, ऐसा पंडित जन कहते हैं॥५२॥ जो कि अन्याय कर नाश हुए धन को अच्छी दृढ़ बुद्धि का आश्रय कर न्याय से फिर लेने की इच्छा करता है, यह सत्पुरुषों का व्रत है॥५३॥

आयत्यां प्रतिकारज्ञस्तदात्वे दृढनिश्चयः ।
अतीते कार्यशेषज्ञो नरोऽर्थैर्न प्रहीयते ॥५४॥
कर्मणा मनसा वाचा यदभीक्ष्णं निषेवते ।
तदेवापहरत्येनं तस्मात्कल्याणमाचरेत् ॥५५॥
मङ्गलालम्भनं योगः श्रुतमुत्थानमार्जवम् ।
भूतिमेतानि कुर्वन्ति सतां चाभीक्ष्णदर्शनम् ॥५६॥
अनिर्वेदः श्रियो मूलं लाभस्य च शुभस्य च ।
महान्भवत्यनिर्विण्णः सुखं चानन्तमश्नुते ॥५७॥

जो आनेवाले दुःख का उपाय जानता है, वर्तमानकाल के कर्तव्यपालन में दृढ़ निश्चयवाला और व्यतीतकाल में शेष रहे काम को जाननेवाला है वह नर धनादिकों से कदापि हीन नहीं होता है॥५४॥ मनुष्य कर्म, मन और वाणी से जिस कर्म का सदा ही सेवन करता है, वह कर्म उसको अपनी तरफ खींच लेता है। इसलिये सदा मनुष्य शुभकर्म का ही सेवन

करे॥५५॥ मांगलिक पदार्थों को स्पर्श, चित्त का एकाग्र करना, शास्त्राभ्यास, उद्यम और कोमल स्वभाव रखना और सज्जनों का सदैव दर्शन करना, ये सब ऐश्वर्य करते हैं॥५६॥ उद्यम लक्ष्मी का, लाभ का और शुभ का मूल है, उद्यम करनेवाला ही धनादिकों से महान् हो जाता है और अनन्त सुख भोगता है॥५७॥

नातः श्रीमत्तरं किंचिदन्यत्पथ्यतमं मतम् ।
प्रभविष्णोर्यथा तात क्षमा सर्वत्र सर्वदा ॥५८॥
क्षमेदशक्तः सर्वस्य शक्तिमान्धर्मकारणात् ।
अर्थानर्थौ समौ यस्य तस्य नित्यं क्षमा हिता ॥५९॥
यत्सुखं सेवमानोऽपि धर्मार्थाभ्यां न हीयते ।
कामं तदुपसेवेत न मूढव्रतमाचरेत् ॥६०॥
दुःखार्तेषु प्रमत्तेषु नास्तिकेष्वलसेषु च ।
न श्रीर्वसत्यदान्तेषु ये चोत्साहविवर्जिताः ॥६१॥

हे तात! समर्थ पुरुष के लिये जैसी कि क्षमा सब काल में और सब जगह हितकारक है, इससे अन्य कुछ भी अत्यन्त सुन्दर और अतीव हितकारक उपाय कविजनों से नहीं माना है॥५८॥ असमर्थ तो सबके ही ऊपर क्षमा करे और सामर्थ्यवान् धर्म के कारण क्षमा करे। और जिसके अर्थ और अनर्थ दोनों समान ही हैं उसकी भी क्षमा ही सदा हितकारक जाननी॥५९॥ जिस सुख की सेवा करनेवाला जन धर्म और अर्थ इन दोनों से भ्रष्ट नहीं होता है उस अभीष्ट सुख का सेवन कर ले और मूढ़व्रत को (आसक्ति एवं अन्याय पूर्वक विषय सेवन) न करे॥६०॥ जो दुःख से पीड़ित, प्रमादी, नास्तिक, आलसी, अजितेन्द्रिय और उत्साह रहित हैं उनके यहाँ लक्ष्मी का वास नहीं होता॥६१॥

आर्जवेन नरं युक्तमार्जवात्सव्यपत्रपम् ।
अशक्तं मन्यमानास्तु धर्षयन्ति कुबुद्धयः ॥६२॥
अत्यार्यमतिदातारमतिशूरमतिव्रतम् ।
प्रज्ञाभिमानिनं चैव श्रीर्भयान्नापसर्पति ॥६३॥
न चातिगुणवत्स्वेषा नात्यन्तं निर्गुणेषु च ।
नैषा गुणान्कामयते नैर्गुण्यान्नानुरज्यते ।

उन्मत्ता गौरिवान्धा श्रीःक्वचिदेवावतिष्ठते ॥६४॥
अग्निहोत्रफला वेदाः शीलवृत्तफलं श्रुतम् ।
रतिपुत्रफला नारी दत्तभुक्तफलं धनम् ॥६५॥

जो अपने सरल स्वभाव से युक्त रहता है और सरल स्वभाव होने से ही लज्जायुक्त रहता है उस नर को कुबुद्धिजन असमर्थ मानते हुए अनादर करने लगते हैं॥६२॥ अतीव श्रेष्ठ, अतीव दानी, अतीव शूरवीर है, अधिक व्रत नियमों का पालन करने वाले मनुष्यों के समीप लक्ष्मी भय से नहीं जाती हैं॥६३॥ यह लक्ष्मी न तो अतीव गुणों वालों के ही पास रहती है और न अतीव निर्गुणों के पास रहती है न यह लक्ष्मी गुणों की कामना करती है और न निर्गुण होने से अनुराग को प्राप्त होती है किन्तु उन्मत्त अन्धी गौ के समान कहीं कहीं स्वयं ही स्थित हो जाती है॥६४॥ वेद वह है जिनका कि फल अग्निहोत्र है और शास्त्र वह है जिसका कि फल शील और आचार है और स्त्री वह है जिसका कि फल रति और पुत्र है और धन वह है जिसका कि फल भोग करना और दान करना है॥६५॥

अधर्मोपार्जितैरर्थैर्यः करोत्यौर्ध्वदैहिकम् ।
न स तस्य फलं प्रेत्य भुक्तेऽर्थस्य दुरागमात् ॥६६॥
कान्तारे वनदुर्गेषु कृच्छ्रास्वापत्सु संभ्रमे ।
उद्यतेषु च शस्त्रेषु नास्ति सत्ववतां भयम् ॥६७॥
उत्थानं संयमो दाक्ष्यमप्रमादो धृतिः स्मृतिः ।
समीक्ष्य च समारंभो विद्धि मूलं भवस्य तु ॥६८॥

जो कि अधर्म से इकट्ठे किये हुए धनों से और्ध्वदैहिक अर्थात् परलोक साधन यज्ञादि करता है वह पुरुष मरकर परलोक में उस यज्ञादिका फल धन के खोटे कर्म से मिलने के कारण नहीं भोगता है॥६६॥ बड़े भारी वनों में, वन से घिरे हुए दुर्गमस्थान में, कष्ट और आपदाओं में, घबराहट में और प्रहार के लिये शस्त्र उठे रहने पर भी धैर्यवाले जनों को भय नहीं होता है॥६७॥ उद्योग, संयम, चतुरता, अप्रमाद, नाम धैर्य और स्मृति इनको हे राजन्! आप ऐश्वर्य का मूल जानिये॥६८॥

तपो बलं तापसानां ब्रह्म ब्रह्मविदां बलम् ।
हिंसा बलमसाधूनां क्षमा गुणवतां बलम् ॥६९॥
अष्टौ तान्यव्रतघ्नानि आपो मूलं फलं पयः ।
हविर्ब्राह्मणकाम्या च गुरोर्वचनमौषधम् ॥७०॥
न तत्परस्य संदध्यात्प्रतिकूलं यदात्मनः ।
संग्रहेणैष धर्मः स्यात्कामादन्यः प्रवर्तते ॥७१॥
अक्रोधेन जयेत्क्रोधमसाधुं साधुना जयेत् ।
जयेत्कदर्यं दानेन जयेत्सत्येन चानृतम् ॥७२॥

तपस्वियों का बल तप है और वेदवेत्ताओं का बल वेद है और असाधुओं का बल हिंसा है और गुणवानों का बल क्षमा है॥६९॥ जो आठ वस्तुएं व्रत का नाश करने वाली नहीं होती हैं वे हैं जल, मूल, फल, दूध घृत, ब्राह्मण की इच्छा पूर्ति, गुरु का वचन, और औषध॥७०॥ जो कर्म अपने आत्मा को प्रतिकूल हो उस कर्म के और करने को दूसरे को भी सलाह न दे, यह धर्म संग्रह से होता है और अन्य धर्म इच्छा से प्रवृत्त होता है अर्थात् यह धर्म निष्काम है और अन्य धर्म सकाम है॥७१॥ अक्रोध से क्रोध को जीते और सत्यकर्म से असत्यकर्म को जीते और दान से कृपणता को जीते और सत्य से झूंठ जीते॥७२॥

स्त्रीधूर्तकेऽलसे भीरौ चण्डे पुरुषमानिनि ।
चौरे कृतघ्ने विश्वासो न कार्यो न च नास्तिके ॥७३॥
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि संप्रवर्धन्ते कीर्तिरायुर्यशोबलम् ॥७४॥
अतिक्लेशेन येऽर्थाः स्युर्धर्मस्यातिक्रमेण वा ।
अरेर्वा प्रणिपातेन मा स्म तेषु मनः कृथाः ॥७५॥
अविद्यः पुरुषः शोच्यः शोच्यं मैथुनमप्रजम् ।
निराहाराः प्रजाः शोच्याः शोच्यं राष्ट्रमराजकम्॥७६॥

स्त्री, धूर्त, आलसी, डरपोक, पुरुषत्व के अभिमानी, चोर, कृतघ्न और नास्तिक इनका विश्वास नहीं करना चाहिये॥७३॥ उत्तमजनों को प्रणाम करने का है स्वभाव जिसका ऐसे सदैव वृद्ध जनों की सेवा करने वाले मनुष्य के चार पदार्थ बढ़ते हैं कीर्ति, आयु, धन और बल॥७४॥

जो अर्थ अत्यन्त क्लेश और धर्म के उल्लंघन से और शत्रु के आगे नम्र होने से प्राप्त होते हों उन अर्थों के लिये हे राजन्! अपना मन मत करिये।।७५।। विद्याहीन पुरुष, सन्तानोत्पत्ति रहित सभी प्रसंग, आहार न पाने वाली प्रजा और विना राजा के राष्ट्र के लिये शोक करना चाहिये।।७६।।

अध्वा जरा देहवतां पर्वतानां जलं जरा ।
असंभोगो जरा स्त्रीणां वाक्शल्यं मनसो जरा ।।७७।।
अनाम्नायमला वेदा ब्राह्मणस्याव्रतं मलम् ।।७८।।
मलं पृथिव्या बाह्लीकाः पुरुषस्यानृतं मलम् ।
कौतूहलमला साध्वी विप्रवासमलाः स्त्रियः।।७९।।
सुवर्णस्य मलं रूप्यं रूप्यस्यापि मलं त्रपु ।
ज्ञेयं त्रपुमलं सीसं सीसस्यापि मलं मलम् ।।८०।।
न स्वप्नेन जयेन्निद्रां न कामेन जयेत्स्त्रियः ।
नेन्धनेन जयेदग्निं न पानेन सुरां जयेत् ।।८१।

देहधारियों का बुढ़ापा मार्ग है, पर्वतों का बुढ़ापा जल है, स्त्रियों का बुढ़ापा असंभोग है और मन का बुढ़ापा दुर्वचन है।।७७।। वेदों का मल अनभ्यास है, ब्राह्मण का मल अनाचार है पृथ्वी का मल बाल्हीक देश है, पुरुष का मल झूंठ है, पतिव्रता स्त्रियों का मल कौतूहल अर्थात् कटाक्षहास्यादि क्रीड़ा है और सर्व स्त्रियों का मल परगृहादिक में वास करना है।।७८-७९।। सुवर्ण का मल चांदी और चांदी का मल रांगा जानने योग्य है और रांगे का मल सीसा और सीसा का भी मल मैल है।।८०।। निद्रा से जन निद्रा को नहीं जीत सकता है और काम से स्त्रियों को नहीं जीत सकता है और ईंधन से अग्नि को नहीं जीत सकता है और मदिरापान से मदिरा को नहीं जीत सकता है।।८१।।

यस्य दानजितं मित्रं शत्रवो युधि निर्जिताः ।
अन्नपानजिता दाराः सफलं तस्य जीवितम्।।८२।।
सहस्रिणोऽपि जीवन्ति जीवन्ति शतिनस्तथा ।
धृतराष्ट्र विमुंचेच्छां न कथंचिन्न जीव्यते ।।८३।।

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
नालमेकस्य तत्सर्वमिति पश्यन्न मुह्यति ॥८४॥
राजन्भूयो ब्रवीमि त्वां पुत्रेषु सममाचर ।
समता यदि ते राजन् स्वेषु पाण्डुसुतेषु वा ॥८५॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरवाक्ये
एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥३९॥ [७]

जिसके दान से जीते हुए मित्र हैं और युद्ध में जीते हुए शत्रु हैं और अन्नपान से जीती हुई स्त्रियां हैं उसका जीवन सफल है॥८२॥ हे धृतराष्ट्र! जब तक कि मृत्यु ही है तब तक हजार वाले भी जीते हैं और सौ वाले भी जीते हैं इससे इच्छा को त्याग दीजिये यदि इच्छा को न त्यागोगे तो भी किसी प्रकार तुम्हारा जीवन नहीं हो सकता है॥८३॥ इस पृथ्वी पर धान, यव, सुवर्ण पशु, स्त्रियाँ हैं वे सर्व इच्छा करने वाले एक के ही भोगने को परिपूर्ण नहीं हो सकती ऐसा देखता हुआ विद्वान् मोहित नहीं होता है॥८४॥ हे राजन्! आपसे फिर मैं कहता हूँ कि अपने तथा पाण्डव पुत्रों के साथ समानता का व्यवहार कीजिये यदि आप अपने पुत्रों में और पाण्डव पुत्रों में समता समझते हों तो॥८५॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये श्रीपाठकवंशावतंसतंपण्डितमंगलसेनात्मजकाशिरामविरचितभाषातिलके एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥३९॥ [७]

*****

आठवाँ अध्याय

विदुर उवाच

योऽभ्यर्चितः सद्भिरसज्जमानः करोत्यर्थं शक्तिमहापयित्वा ।
क्षिप्रं यशस्तं समुपैति सन्तः मलं प्रसन्ना हि सुखाय सन्तः ॥१॥

विदुरजी कहते हैं, पुरुष सज्जन पुरुषों से आदर पाकर आसक्ति हित हो,

अपनी शक्ति के अनुष्ठान अर्थ साधन करता रहता है, उस श्रेष्ठ पुरुष को शीघ्र ही सुयश की प्राप्ति होती है, क्योंकि जिस पर सब प्रसन्न रहते हैं, वह सदा ही सुखी रहता है॥१॥

महान्तमप्यर्थमधर्मयुक्तं यः सन्त्यजत्यनपाकृष्ट एव ।
सुखं सुदुःखान्यवमुच्य शेते जीर्णां त्वचं सर्प इवावमुच्य ॥२॥

अनृते च समुत्कर्षो राजगामि च पैशुनम् ।
गुरोश्चालीकनिर्बन्धः समानि ब्रह्महत्यया ॥३॥
असूयैकपदं मृत्युरतिवादः श्रियो वधः ।
अशुषूषा त्वरा श्लाघा विद्यायाः शत्रवस्त्रयः ॥४॥
आलस्यं मदमोहौ च चापलं गोष्ठिरेव च ।
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथात्यागित्वमेव च ।
एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः ॥५॥

जो अधर्म से उपार्जित महान् धनराशि को भी उसकी ओर आकृष्ट हुए विना ही त्याग देता है, वह जैसे सांप अपनी पुरानी केंचुल को छोड़ता है उसी प्रकार वह दुःखों से मुक्त हो सुखपूर्वक शयन करता है॥२॥ झूंठ में अतीव उत्कर्ष, अर्थात् अधिकता, राजा तक जानेवाली चुगली और गुरुजनों से झूंठ का हठ, ये ब्रह्महत्या के समान है॥३॥ मुत्यु का एक पद निन्दा है, कठोर वचन लक्ष्मी का नाशक है और असेवा और संभ्रम तथा अनभ्यास ये तीन विद्या के शत्रु हैं॥४॥ आलस्य, मद, मोह, चपलता, गोष्ठि, ढीठता, अभिमान और लुब्धता ये सात दोष सदैव ही विद्यार्थियों द्वारा त्यागने योग्य विद्वानों ने माने हैं॥५॥

सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्तिं विद्यार्थिनः सुखम् ।
सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत्सुखम् ॥६॥
नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः ।
नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचना ॥७॥

आशा धृतिं हन्ति समृद्धिमन्तकः क्रोधः श्रियं हन्ति यशः कदर्यता ।
अपालनं हन्ति पशूँश्च राजन्नेकः क्रुद्धो ब्राह्मणो हन्ति राष्ट्रम् ॥८॥

सुख चाहने वाले को विद्या कैसे हो सकती हैं? और विद्या चाहने वाले को सुख नहीं होता है जो सुख के चाहने वाला है तो विद्या को त्याग दे

और विद्या को चाहने वाला है तो सुख को त्याग दे।।६।। काष्ठों से अग्नि नहीं तृप्त हो सकती है और नदियों से समुद्र नहीं तृप्त हो सकता है और सर्व प्राणियों के मारने से काल नहीं तृप्त हो सकता है और पुरुषों के भोगने से स्त्री नहीं तृप्त हो सकती है।।७।। हे राजन्! आशा धैर्य को, काल समृद्धि को, क्रोध लक्ष्मी को, कृपणता कीर्ति को, पालन न करना पशुओं को और क्रुद्ध हुआ ब्राह्मण राजा का नाश कर देता है।।८।।

अजाश्च कांस्यं रजतं च नित्यं मध्वाकर्षः शकुनिः श्रोत्रियश्च।
वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीन एतानि ते सन्तु गृहे सदैव ।।९।।

अजोक्षा चन्दनं वीणा आदर्शो मधुसर्पिषी ।
विषमौदुम्बरं शङ्खः स्वर्णनाभोऽथ रोचना ।।१०।।
गृहे स्थापयितव्यानि धन्यानि मनुरब्रवीत् ।
देवब्राह्मणपूजार्थमतिथीनां च भारत ।।११।।

हे महाराज! बकरी, कांसे का पात्र, चांदी, सहत, अर्क खींचने का यंत्र पक्षी, वेद पढ़ने वाला ब्राह्मण, बूढ़ा कुटुम्बी और विपत्ति ग्रस्त कुलीन ये सदैव आपके घर में रहे।।९।। बकरी, बैल, चन्दन, वीणा, दर्पण, सहत, घृत, विष, तांबा, शंख, स्वर्णनाम गण्डकी नदी से उत्पन्न हुई प्रतिमा और रोली।।१०।। हे भारत! देवब्राह्मणों और अतिथियों की पूजा के लिये ये घर में स्थापित करने योग्य है, इनको मनु महाराज भी धन की वृद्धि करने वाले कहते हैं।।११।।

इदं च त्वां सर्वपरं ब्रवीमि पुण्यं पदं तात महाविशिष्टम् ।
न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः ।।१२।।
नित्योः धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ।
त्यक्त्वाऽनित्यं प्रतितिष्ठस्व नित्ये सन्तुष्य त्वं तोषपरो हि लाभः ।।१३।।
महाबलान्पश्य महानुभावान् प्रशास्य भूमिं धनधान्यपूर्णाम् ।
राज्यानि हित्वा विपुलांश्च भोगान् गतान्नरेन्द्रान् वशमन्तकस्य ।।१४।।

हे तात! सब में उत्तम और अतीव श्रेष्ठ तथा पुण्य प्राप्त करने वाला यह वचन मैं आपसे कहता हूँ, न तो काम से और न भय से, न लोभ से और न जीवित के कारण, कदाचित् भी धर्म का त्याग नहीं करे।।१२।। धर्म नित्य है और सुखदुःख दोनों अनित्य हैं और भोगने वाला जीव

नित्य है और इस जीव का हेतु शरीरादि अनित्य है इससे अनित्य को छोड़कर नित्य के ऊपर स्थित होइये और आप सन्तोष करिये क्योंकि परमलाभ है॥१३॥ हे राजन्! बड़े बड़े प्रभाव वाले महाबली राजाओं को देखिये कि जो धनधान्य से परिपूर्ण हुई पृथ्वी का पालन करके राज्य और विपुल भोगों को त्याग काल के वश चले गये॥१४॥

मृतं पुत्रं दुःखपुष्टं मनुष्या उत्क्षिप्य राजन् स्वगृहान्निर्हरन्ति ।
तं मुक्तकेशाः करुणं रुदन्ति चिताध्यये काष्ठमिव क्षिपन्ति ॥१५॥
अन्यो धनं प्रेतगतस्य भुंक्ते वयांसि चाग्निश्च शरीरधातून् ।
द्वाभ्यामयं सह गच्छत्यमुत्र पुण्येन पापेन च वेष्ट्यमानः ॥१६॥

हे राजन्! जो कि बड़े दुःखों से पुष्ट किया है ऐसे मृतकपुत्र को उठाकर मनुष्य अपने घरों से निकालकर ले जाते हैं और उसको पीछे मुक्तकेश अर्थात् बालों के लट छोड़े हुए करुणापूर्वक रोते हैं और चिता में काष्ठ के समान उसको जलने के लिये डाल देते हैं॥१५॥ उस प्रेतभाव को प्राप्त हुए मृतक के धन को और ही भोगता है और उसके शरीर धातुओं को पक्षी वा अग्नि भक्षण कर लेता है केवल वह मृतक पुण्य और पाप से वेष्टित हुआ दोही पुण्यपापों के साथ परलोक में जाता है॥१६॥

उत्सृज्य विनिवर्तंते ज्ञातयः सुहृदः सुताः ।
अपुष्पानफलान् वृक्षान् यथा तात पतत्रिणः॥१७॥
अग्नौ प्रास्तं तु पुरुषं कर्मान्वेति स्वयंकृतम् ।
तस्मात्तु पुरुषो यत्नाद्धर्मं संचिनुयाच्छनैः ॥१८॥

अस्माल्लोकादूर्ध्वममुष्य चाधो महत्तमस्तिष्ठति ह्यन्धकारम् ।
तद्वै महामोहनमिन्द्रियाणां बुध्यस्व मा त्वां प्रलभेत राजन् ॥१९॥

हे तात! जिस प्रकार कि विना फूल और फलों वाले वृक्षों को पक्षी त्याग देते हैं उसी प्रकार जातिवाले और मित्र तथा पुत्र उस मृतक को त्यागकर लौट आते हैं॥१७॥ अग्नि में जलने के लिये डाले हुए उस मृतक पुरुष के पीछे उसका अपना किया हुआ कर्म चलता है, इसलिये पुरुष सदैव यत्न से सावधानीपूर्वक धर्म का संचय करता है॥१८॥ हे राजन्! इस लोक से ऊपर और इसके नीचे जो कि बड़ा भारी अन्धकार

है उस अन्धकार को इन्द्रियों को अतीव मोहित करने वाला जान लीजिये, जिससे यह आपका स्पर्श न करे॥१९॥

इदं वचः शक्ष्यसि चेद्यथावन्निशम्य सर्वं प्रविपत्तुमेव ।
यशः परं प्राप्स्यसि जीवलोके भयं न चामुत्र न चेह तेऽस्ति ॥२०॥
आत्मा नदी भारतपुण्यतीर्था सत्योदका धृतिकूला दयोर्मिः ।
तस्यां स्नातः पूयते पुण्यकर्मा पुण्यो ह्यात्मा नित्यमलोभ एव ॥२१॥
कामक्रोधग्राहवतीं पञ्चेन्द्रियजलां नदीम् ।
नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि संतर ॥२२॥

हे राजन्! यदि इन मेरे कहे हुए समस्त वचनों को यथावत् सुनकर जानने को समर्थ होवोगे तो मनुष्य लोक में परम कीर्ति पावोगे! और न इस लोक में न परलोक में तुमको भय रहेगा॥२०॥ हे भारत! आत्मा नदीरूप है, उस नदी में पुण्यरूप जल है और जिसका उत्पत्तिस्थान सत्य है और जिसके आसपास का किनारा धैर्य है। और जिसकी लहर दया है उस नदी में स्नान करता हुआ पुण्यकर्म वाला जीव पवित्र हो जाता है। क्योंकि जो कि आत्मा, निर्लोभ है वह सदैव ही पवित्र रहता है॥२१॥ पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं जल जिसमें ऐसी कामक्रोध-रूप बड़े बड़े ग्राहों वाली नदी के प्रति धैर्यरूप नाव बनाकर जन्म, मरण, जरा, व्याधि, शोक, दुःखादिरूप दुर्गम स्थानों को तर जाइये॥२२॥

प्रज्ञावृद्धं धर्मवृद्धं स्वबन्धुं विद्यावृद्धं वयसा चापि वृद्धम् ।
कार्याकार्ये पूजयित्वा प्रसाद्य यः संपृच्छेन्न स मुह्येत्कदाचित् ॥२३॥
धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत्पाणिपादं च चक्षुषा ।
चक्षुःश्रोत्रे च मनसा मनो वाचं च कर्मणा ॥२४॥

जो बुद्धि, धर्म, विद्या और अवस्थामें बड़े अपने बन्धुओं को आदर सत्कार से प्रसन्न करके उससे कर्तव्य अकर्तव्य के विषय में प्रश्न करता है, वह कभी मोह में नहीं पड़ता॥२३॥ धैर्य से शिश्न और उदर को, नेत्र से हाथ और पांव को, मन से नेत्र और कान को, और कर्म से मन और वाणी को जीते॥२४॥

नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती नित्यस्वाध्यायी पतितान्नवर्जी ।
सत्यं ब्रुवन्गुरवे कर्म कुर्वन्न ब्राह्मणश्च्यवते ब्रह्मलोकात् ॥२५॥

**अधीत्य वेदान्परिसंतीर्य चाग्नीनिष्ट्वा यज्ञैः पालयित्वा प्रजाश्च ।
गोब्राह्मणार्थं शस्त्रपूतांतरात्मा हतः संग्रामे क्षत्रियः स्वर्गमेति ॥२६॥**

सदैव यथाकाल स्नानादि करने वाला, सदैव यज्ञोपवीत धारण करने वाला, सदैव वेद का अभ्यास करने वाला, पतितजनों के अन्न को त्यागने वाला, गुरु के लिये सत्य कहने वाला, श्रौत स्मार्त कर्म करने वाला, ऐसा ब्राह्मण ब्रह्मलोक से भ्रष्ट नहीं होता है॥२५॥ वेदों को पढ़कर अग्निओं का विस्तार कर यज्ञों से देवताओं का यजन कर प्रजाओं का पालन कर, जो कि गौ और ब्राह्मण के लिये शस्त्र से पवित्र हुए अन्तःकरणवाला क्षत्रिय संग्राम में वध्य होता है वह स्वर्ग को प्राप्त होता है॥२६॥

**वैश्योऽधीत्य ब्राह्मणान् क्षत्रियांश्च धनैः काले संविभज्याश्रितांश्च ।
त्रेतापूतं धूममाघ्राय पुण्यं प्रेत्य स्वर्गे दिव्यसुखानि भुङ्क्ते ॥२७॥
ब्रह्म क्षत्रं वैश्यवर्णं च शूद्रः क्रमेणैतान्न्यायतः पूजयानः ।
तुष्टेष्वेतेष्वव्यथो दग्धपापस्त्यक्त्वा देहं स्वर्गसुखानि भुङ्क्ते ॥२८॥
चातुर्वर्ण्यस्यैष धर्मस्तवोक्तो हेतुं चानुब्रुवतो मे निबोध ।
क्षात्राद्धर्माद्धीयते पाण्डुपुत्रस्तं त्वं राजन् राजधर्मे नियुंक्ष्व ॥२९॥**

वेदों को पढ़कर और समय समय पर ब्राह्मण और क्षत्रिय और आश्रित जनों को धन बांटकर और यज्ञ के तीनों अग्निओं से पवित्र हुए पुण्यदायक धूम को सूंघकर वैश्य मरकर स्वर्ग में दिव्यसुखों को भोगता है॥२७॥ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य वर्ण इनकी क्रमानुसार न्याय से पूजा करने वाला शूद्र इन ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों के संतुष्ट होनेपर निष्पाप और व्यथा हीन होकर शरीर त्याग स्वर्गसुखों को भोगता है॥२८॥ हे राजन्! चारों वणों का यह धर्म मैंने आपसे कहा है इन चारों वर्णों के धर्म के कहने का कारण भी मुझसे श्रवण करिये। हे राजन्! पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर महाराज प्रजापालनादिरूप क्षत्रियों के धर्म से हीन हैं इस कारण आप उनको क्षत्रियों के धर्म में नियुक्त करिये॥२९॥

धृतराष्ट्र उवाच

**एवमेतद्यथा त्वं मामनुशाससि नित्यदा ।
ममापि च मतिः सौम्य भवत्येवं यथात्थ माम् ॥३०॥**

सा तु बुद्धिः कृताप्येवं पाण्डवान्प्रति मे सदा ।
दुर्योधनं समासाद्य पुनर्विपरिवर्तते ॥३१॥
न दिष्टमभ्यतिक्रान्तुं शक्यं भूतेन केनचित् ।
दिष्टमेव ध्रुवं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम् ॥३२॥

धृतराष्ट्र ने कहा, हे विदुरजी! यह ऐसा ही होना चाहिये जैसा कि सदैव आप मुझको सिखाते रहते हो और हे सौम्य! मेरी बुद्धि भी ऐसी ही हो जाती है जैसा कि आप मुझसे कहते हो॥३०॥ यद्यपि मैं पाण्डवों के प्रति सदा ऐसी ही बुद्धि रखता हूँ। तथापि दुर्योधन से मिलने पर फिर बुद्धि फिर जाती है॥३१॥ प्रारब्ध उल्लंघन करने की शक्ति किसी भी प्राणी में नहीं है। इस कारण मैं तो प्रारब्ध को ही अचल मानता हूँ और पुरुषार्थ को निरर्थक॥३२॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि
विदुरवाक्ये चत्वारिंशोऽध्यायः ॥४०॥ [८]

समाप्तमिदं प्रजागरपर्व

गुरुभक्त्यनुभावेन भाषा विदुरनीतिके ।
समपूर्यत तां दृष्ट्वा सन्तो मे सन्तु शंकराः ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरहितवाक्ये श्रीढाढौलीग्रामस्य पाठकवंशावतंस पंडितमङ्गलसेनात्मजकाशि-रामविरचितभाषातिलके चत्वारिंशोऽध्यायः ॥४०॥ [८]

दोहा—सम्वतवह्निशरांकशशि, माघ कुहूयुत सोम ।
विदुरनीतिभाषातिलक, विरचो पद अनुलोम ॥
काशिरामको आज पितु, मङ्गलसेनसमेत ।
भयो सफल रचि जन्म यह, सद्गुणगणसमुपेत ॥
जगतमान्य मुम्बापुरी, वेंकटेशयन्त्रेश ।
मुद्रणहित अर्पण कियो, क्षितियशकरन प्रवेश ॥

इति विदुरनीति समाप्त

यक्षधर्मप्रश्नोत्तरी
हिन्दीटीकासमेता प्रारभ्यते

अथारणेयपर्व

जनमेजय उवाच

एवं हृतायां भार्यायां प्राप्य क्लेशमनुत्तमम् ।
प्रतिपद्य ततः कृष्णां किमकुर्वत पाण्डवाः ॥१॥

वैशंपायन उवाच

एवं हृतायां कृष्णायां प्राप्य क्लेशमनुत्तमम् ।
विहाय काम्यकं राजा सह भ्रातृभिरच्युतः ॥२॥
पुनर्द्वैतवनं रम्यमाजगाम युधिष्ठिरः ।
स्वादुमूलफलं रम्यं विचित्रबहुपादपम् ॥३॥

नत्वा कृष्णं यक्षधर्मसुप्रश्नोत्तरमालिकाम्
अलङ्करोमि नृगिरा टीकया विशदार्थयां

राजा जनमेजय वैशंपायनजी से बोले कि हे, ऋषिवर्य! जब इस प्रकार जयद्रथ द्वारा द्रौपदी का हरण किये जाने पर घोर क्लेशको प्राप्त हुये पाण्डवों ने द्रौपदी को पुनः प्राप्तकर क्या किया॥१॥ वैशम्पायनजी बोले–हे राजन्! इस प्रकार द्रौपदी का हरण कर लिये जाने से पाण्डवों को घोर पीड़ा हुई और भ्राताओं सहित धैर्यधारी राजा युधिष्ठिर उस काम्यक वन को छोड़कर फिर उसी सुन्दर द्वैत वन में आ गये, जहां स्वादिष्ट और सुन्दर मूल फल थे और अनेक प्रकार के बहुत वृक्ष थे॥२-३॥

अनुभुक्तफलाहाराः सर्व एव मिताशनाः ।
न्यवसन्पाण्डवास्तत्र कृष्णया सह भार्यया ॥४॥
वसन्द्वैतवने राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
भीमसेनोऽर्जुनश्चैव माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥५॥

ब्राह्मणार्थे पराक्रान्ता धर्मात्मानो यतव्रताः ।
क्लेशमार्च्छन्त विपुलं सुखोदर्कं परंतपाः ।।६।।

उस वन में आकार फलों का परिमित भोजन करने वाले, व्रतधारी पांडव, अपनी स्त्री द्रौपदी सहित निवास करने लगे।।४।। वहां निवास करते हुए कुंतीपुत्र राजा युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन और पांडव माद्री के पुत्र नकुल व सहदेव।।५।। वहां इन धर्मात्मा, यति, व्रती, शत्रुघातक पाण्डवों को ब्राह्मण के लिये ऐसा महादुःख झेलना पड़ा, जिसके कि गर्भ में सुख था।।६।।

तस्मिन्प्रतिवसन्तस्ते यत्प्रापुः कुरुसत्तमाः ।
वने क्लेशं सुखोदर्कं तत्प्रवक्ष्यामि ते शृणु ।।७।।
अरणीसहितं मन्थं ब्राह्मणस्य तपस्विनः ।
मृगस्य घर्षमाणस्य विषाणे समसज्जत ।।८।।
तदादाय गतो राजंस्त्वरमाणो महामृगः ।
आश्रमान्तरितः शीघ्रं प्लवमानो महाजवः ।।९।।
ह्रियमाणं तु तं दृष्ट्वा स विप्रः कुरुसत्तम ।
त्वारितोऽभ्यागमत्तत्र अग्निहोत्रपरीप्सया ।।१०।।

हे राजन्! उस वन में रहते हुये कुरुश्रेष्ठ उन पाण्डवों को जो सुख फलवाला दुःख प्राप्त हुआ, वह मैं आपसे कहता हूँ, सुनिये।।७।। एक समय किसी एक तपस्वी ब्राह्मणका अरणियां (अग्नि मथनेकी ऊपर नीचे की लकड़ियां) समेत अग्निमथने का दंड, मस्तक की खाज मिटाने के लिये घिसते हुए मृग के सींगों में उलझ गया।।८।। हे राजन्! पश्चात् चलता हुआ वह भारी मृग उसको लेकर महावेग से कूदता हुआ आश्रम से दूर चला गया।।९।। हे कुरुश्रेष्ठ! इस प्रकार मृग सींगों में गये हुए अग्निदंड को देखकर वह ब्राह्मण अग्निहोत्र करने की इच्छा से वहां आया।।१०।।

अजातशत्रुमासीनं भ्रातृभिः सहितं वने ।
आगम्य ब्राह्मणस्तूर्णं संतप्तश्चेदमब्रवीत् ।।११।।
अरणीसहितं मन्थं समासक्तं वनस्पतौ ।
मृगस्य घर्षमाणस्य विषाणे समसज्जत ।।१२।।
तमादाय गतो राजंस्त्वरमाणो महामृगः ।
आश्रमात्त्वरितः शीघ्रं प्लवमानो महाजवः ।।१३।।

तस्य गत्वा पदं राजन्नासाद्य च महामृगम् ।
अग्निहोत्रं न लुप्येत तदानयत पाण्डवाः ॥१४॥
ब्राह्मणस्य वचः श्रुत्वा सन्तप्तोऽथ युधिष्ठिरः ।
धनुरादाय कौन्तेयः प्राद्रवद्भ्रातृभिः सह ॥१५॥

जहां वन में भ्राताओं सहित राजा युधिष्ठिर बैठे थे, दुःखित हुआ वह ब्राह्मण शीघ्र वहां आकर यह वचन बोला॥११॥ हे राजन्! मैंने अरणियों समेत अग्निदंड एक वृक्ष में रखा था वह खाज करते हुए मृग के सींगों में उलझ गया॥१२॥ हे राजन्! वह महामृग उसको लेकर चला गया और बड़े वेग से कूदता हुआ शीघ्र आश्रम से दूर चला गया॥१३॥ हे पांडुपुत्रो! उसका पीछा करके महामृग को पकड़कर अरणीसहित मेरे अग्निदंड को ला दो कि जिससे मेरा अग्निहोत्र लुप्त न हो॥१४॥ ब्राह्मण का ऐसा वचन सुनकर राजा युधिष्ठिर को बड़ा कष्ट हुआ और वह कुन्तीपुत्र धनुष लेकर भ्राताओ सहित मृग के पीछे दौड़ा॥१५॥

सन्नद्धा धन्विनः सर्वे प्राद्रवन्नरपुङ्गवाः ।
ब्राह्मणार्थे यतंतस्ते शीघ्रमन्वगमन्मृगम् ॥१६॥
कर्णिनालीकनाराचानुत्सृजन्तो महारथाः ।
नाविध्यन्पाण्डवास्तत्र पश्यन्तो मृगमन्तिकात् ॥१७॥
तेषां प्रयतमानानां नादृश्यत महामृगः ।
अपश्यन्तो मृगं शान्ता दुःखं प्राप्ता मनस्विनः ॥१८॥
शीतलच्छायमागम्य न्यग्रोधं गहने वने ।
क्षुत्पिपासापरीताङ्गाः पाण्डवाः समुपाविशन् ॥१९॥

ब्राह्मण के लिये प्रयत्न करते हुए वे नरश्रेष्ठ कवचादि धारण करके धनुष लेकर शीघ्र मृग के पीछे दौड़े॥१६॥ तब मुखमात्र में लोहवाले और सम्पूर्ण लोहवाले बाणों को छोड़ते हुए भी महारथी पांडव वहां मृग को समीप न देखने के कारण मारने न पाये॥१७॥ यत्न करते हुए भी उन वीरों को जब वह महामृग नहीं दीख पड़ा तब मृग के ढूँढने से वे शांत हो गये और मनस्वी ये पांडव महान् कष्ट को प्राप्त हुए॥१८॥ उस गहन वन में शीतल छायावाले एक बड़ के वृक्ष की छाया में क्षुधा तृषा से पीड़ित अँगोवाले वे पांडव बैठ गये॥१९॥

तेषां समुपविष्टानां नकुलो दुःखितस्तदा ।
अब्रवीद्भ्रातरं श्रेष्ठममर्षात्कुरुनन्दनम् ॥२०॥
नास्मिन्कुले जातु ममज्ज धर्मो न चालस्यादथ लोपो बभूव ।
अनुत्तराः सर्वभूतेषु भूयः संप्राप्ताः स्मः संशयं किन्तु राजन् ॥२१॥

इति श्रीमहाभारते आरण्यकेपर्वणि आरणेयपर्वणि मृगान्वेषणे
एकादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥३११॥ [१]

जब सभी वहां बैठ गये तब दुःखित हुआ नकुल, कुरुनन्दन श्रेष्ठ भ्राता राजा युधिष्ठिर को क्रोध से कहने लगा॥२०॥ हे राजन्! इस हमारे कुल में आज तक न कभी धर्मका लोप हुआ है और न कभी आलस्य से अर्थका लोप हुआ है, फिर सम्पूर्ण प्राणियों में कभी कोई अनुत्तर अर्थात् 'किसी का कार्य न करना' ऐसे नहीं हुए हैं परन्तु न जाने हम कैसे इस संदेह को प्राप्त हुए हैं, कि जो ब्राह्मण का कार्य नहीं कर सकते हैं॥२१॥

इति श्रीमहाभारते आरण्यके पर्वणि आरणेयपर्वणि हिन्दीटीकायां
मृगान्वेषणे एकादशाऽधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥३११॥ [१]

*****

दूसरा अध्याय

युधिष्ठिर उवाच

नापदामस्ति मर्यादा न निमित्तं न कारणम् ।
धर्मस्तु विभजत्यर्थमुभयोः पुण्यपापयोः ॥१॥

भीम उवाच

प्रातिकाम्यनयत्कृष्णां सभायां प्रेष्यवत्तदा ।
न मया निहतस्तत्र तेन प्राप्ताः स्म संशयम् ॥२॥

अर्जुन उवाच

वाचस्तीक्ष्णास्थिभेदिन्यः सूतपुत्रेण भाषिताः ।
अतितीव्रा मया क्षान्तास्तेन प्राप्ताः स्म संशयम् ।।३।।

ऐसा सुन राजा युधिष्ठिर बोले—हे नकुल! हे भ्राता! आपदाओं की कोई मर्यादा नहीं है और न कोई निमित्त है न कारण है किंतु प्रारब्धरूप धर्म ही, पुण्य और पाप इन दोनों के फलरूप सुख दुःखों को विभक्त कर दिया करता है।।१।। यह सुन भीमसेन कहने लगे कि हे भ्राता! जिस समय दुष्ट दुःशासन द्रौपदी को दासी के समान केश पकड़कर सभा में ले गया उस समय उस दुष्ट को मैंने नहीं मारा, इसलिये उस अपराध से हमको यह कष्ट प्राप्त हुआ है।।२।। अर्जुन कहने लगे कि हे भ्राता! मैं जानता हूँ कि अतितीव्र और अस्थियों को भेदन करनेवाली वाणी कर्ण ने मुझको कही और मैं क्षत्रिय होकर उनको सह गया, बदला नहीं लिया, इस कारण हमको यह कष्ट प्राप्त हुआ है।।३।।

सहदेव उवाच

शकुनिस्त्वां यदाजैषीदक्षद्यूतेन भारत ।
स मया न हतस्तत्र तेन प्राप्ताः स्म संशयम् ।।४।।

वैशंपायन उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा नकुलं वाक्यमब्रवीत् ।
आरुह्य वृक्षं माद्रेय निरीक्षस्व दिशो दश ।।५।।
पानीयमन्तिके पश्य वृक्षांश्चाप्युदकाश्रितान् ।
एते हि भ्रातरः श्रान्तास्तव तात पिपासिताः ।।६।।

यह सुनकर सहदेव कहने लगे कि हे भारत! जब शकुनि ने आपको पाशों के जुए से जीत लिया और मैंने उस समय उसे वहां नहीं मारा इसलिये हमको यह संकट प्राप्त हुआ है।।४।। इतनी कथा कहकर फिर वैशंपायनजी राजा जनमेजय से बोले—हे राजन्! जनमेजय! इसके पश्चात् राजा युधिष्ठिर नकुल को कहने लगे कि हे माद्रेय! वृक्ष पर चढ़कर चारों तरफ देखो।।५।। कि कहीं नजदीक ऐसे वृक्ष भी दीखते हैं कि जहां जल हो, क्योंकि ये तेरे भ्राता बड़े थके हैं और प्यासे

हैं।।६।।

नकुलस्तु तथेत्युक्त्वा शीघ्रमारुह्य पादपम् ।
अब्रवीद्भ्रातरं ज्येष्ठमभिवीक्ष्य समंततः ।।७।।
पश्यामि बहुलान् राजन्वृक्षानुदकसंश्रयान् ।
सारसानां च निर्हादमत्रोदकमसंशयम् ।।८।।
ततोऽब्रवीत्सत्यधृतिः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
गच्छ सौम्य ततः शीघ्रं तूणैः पानीयमानय ।।९।।
नकुलस्तु तथेत्युक्त्वा भ्रातुर्ज्येष्ठस्य शासनात् ।
प्राद्रवद्यत्र पानीयं शीघ्रं चैवान्वपद्यत ।।१०।।

नकुल 'जो आज्ञा' ऐसे कहकर शीघ्र वृक्ष पर चढ़ा और चारों तरफ देखकर बड़े भ्राता युधिष्ठिर से कहने लगा।।७।। हे राजन्! एक जगह जलाश्रयवाले बहुत वृक्ष दीखते हैं और सारसों के शब्द सुनाई पड़ते हैं, इसलिये जानता हूँ कि वहां निश्चय जल होगा।।८।। ऐसा वाक्य सुनने के पश्चात् सत्यधारी कुन्ती के पुत्र राजा युधिष्ठिर कहने लगे कि हे सौम्य! तुम शीघ्र जाओ और तरकसों में जल भरके ले आओ।।९।। नकुल 'जो आज्ञा' ऐसे कहकर बड़े भ्राता राजा युधिष्ठिर की आज्ञा से शीघ्र वहां गया जहां कि जल था।।१०।।

स दृष्ट्वा विमलं तोयं सारसैः परिवारितम् ।
पातुकामस्ततो वाचमन्तरिक्षात्स शुश्रुवे ।।११।।

यक्ष उवाच

मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा तु माद्रेय ततः पिब हरस्वच ।।१२।।
अनादृत्य तु तद्वाक्यं नकुलः सुपिपासितः ।
अपिबच्छीतलं तोयं पीत्वा च निपपात ह ।।१३।।
चिरायमाणे नकुले कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
अब्रवीद्भ्रातरं वीरं सहदेवमरिंदमम् ।।१४।।

वह नकुल सारसों से घिरा हुआ स्वच्छ जल वहां देखकर ज्योंही पीने की इच्छा से चला कि आकाश से वाणी सुनने में आई।।११।। उस आकाशवाणी से यक्ष कहने लगा कि हे तात! हे माद्री पुत्र! यह

जलपानरूप साहस तुम त्याग दो, क्योंकि मेरा प्रथम नियम है कि मेरे प्रश्नों का उत्तर दो, जल पीवो और ले जाओ॥१२॥ प्यास से व्याकुल नकुल ने उस वाणी का अनादर कर शीतल जल पान किया और पान करते ही पृथ्वी पर गिर पड़ा॥१३॥ जब नकुल को गये हुए बहुत देर हो गई तब कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर, शत्रुओं को दमन करनेवाले वीर भ्राता सहदेव से बोले॥१४॥

भ्राता हि चिरयातो नः सहदेव तवाग्रजः ।
तथैवानय सोदर्यं पानीयं च त्वमानय ॥१५॥
सहदेवस्तथेत्युक्त्वा तां दिशं प्रत्यपद्यत ।
ददर्श च हतं भूमौ भ्रातरं नकुलं तदा ॥१६॥
भ्रातृशोकाभिसंतप्तस्तृषया च प्रपीडितः ।
अभिदुद्राव पानीयं ततो वागभ्यभाषत ॥१७॥
मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा यथाकामं पिबस्व च हरस्व च ॥१८॥

हे सहदेव! तुम्हारे बड़े भ्राता नकुल जल लाने को बहुत देर से गये हैं, आये नहीं, क्या कारण हुआ? इसलिये तुम जाओ, उनको भी बुला लाओ और जल भी लेते आओ॥१५॥ सहदेव 'जो आज्ञा' कहकर उसी जगह पहुँचा और वहां देखता क्या है कि भ्राता नकुल मरे हुए पृथ्वी पर पड़े हैं॥१६॥ भ्राता नकुल के शोक से संतप्त और प्यास से पीड़ित हुआ सहदेव जैसे ही जल पीने के लिये शीघ्रता कर चला कि वैसे ही यक्षवाणी सुनाई पड़ी॥१७॥ कि हे तात! साहस मत करो, मेरे बनाये हुए नियम को सुनकर मेरे प्रश्नों का उत्तर देकर जलपान करो और ले जाओ अर्थात् नहीं तो तुम्हारी भी यही दशा होगी॥१८॥

अनादृत्य तु तद्वाक्यं सहदेवः पिपासितः ।
अपिबच्छीतलं तोयं पीत्वा च निपपात ह ॥१९॥
अथाऽब्रवीत्स विजयं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
भ्रातरौते परिगतौ बीभत्सो शत्रुकर्शन ॥२०॥
तौ चैवानय भद्रं ते पानीयं च त्वमानय ।
त्वं हि नस्तात सर्वेषा दुःखितानामुपाश्रयः ॥२१॥

एवमुक्ते गुडाकेशः प्रगृह्य सशरं धनुः ।
आमुक्तखड्गो मेधावी तत्सरः प्रत्यपद्यत ॥२२॥
ततः पुरुषशार्दूलौ पानीयहरणे गतौ ।
तौ ददर्श हतौ तत्र भ्रातरौ श्वेतवाहनः ॥२३॥

तृषा से पीड़ित हुए सहदेव ने ज्योंही उस वाक्य का अनादर कर जलपान किया त्यों ही बेसुध हो पृथ्वी पर गिर पड़ा॥१९॥ इसके बाद कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर अर्जुन से बोले कि हे शत्रुपीडक! तुम्हारे भ्राता नकुल और सहदेव जल लाने को गये थे किन्तु अभी तक नहीं आये॥२०॥ इसलिये हे तात! तुम उनको लाओ, तुम्हारा कल्याण हो क्योंकि हम सभी दुःखितों का आसरा तुम ही हो॥२१॥ अर्जुन धनुष बाण चढ़ाकर और म्यानसे तलवार निकालकर उस सरोवर पर पहुँचा॥२२॥ जहां कि पुरुषशार्दूल नकुल और सहदेव जल लाने को गये थे और वहां देखता क्या है कि नकुल और सहदेव दोनों भ्राता मरे हुए पड़े हैं॥२३॥

प्रसुप्ताविव तौ दृष्ट्वा नरसिंहः सुदुःखितः ।
धनुरुद्यम्य कौन्तेयो व्यलोकयत तद्वनम् ॥२४॥
नापश्यत्तत्र किंचित्स भूतमस्मिन्महावने ।
सव्यसाची ततः श्रान्तः पानीयं सोऽभ्यधावत॥२५॥
अभिधावस्ततो वाक्यमन्तरिक्षात्स शुश्रुवे ।
किमासीदसि पानीयं नैतच्छक्यं बलात्त्वया ॥२६॥
कौन्तेय यदि प्रश्नांस्तान्मयोक्तान्प्रतिपत्स्यसे ।
ततः पास्यसि पानीयं हरिष्यसि च भारत ॥२७॥

मनुष्यों में सिंहरूप वह कुंती का पुत्र अर्जुन, मृतक के समान दोनों भ्राताओं को देखकर अत्यंत दुःखित हुआ और धनुष पर बाण चढ़ाकर उस वन में इधर उधर देखने लगा॥२४॥ जब सव्यसाची अर्जुन ने उस महावन में ढूंढते हुए किसी प्राणीमात्र को भी न देखा तब थका और प्यासा वह पानी पीने को दौड़ा॥२५॥ तब दौड़ते हुए अर्जुन ने आकाश से यह वाक्य सुना—क्या दौड़कर जल पीने को जाते हो? यह जल बल से मिलनेवाला नहीं है॥२६॥ हे कुंती के पुत्र! हे भारत! यदि तुम्हारी

जल पीने की और ले जाने की इच्छा है तो प्रथम मेरे कहे हुए प्रश्नों के उत्तर दो॥२७॥

वारितस्त्वब्रवीत्पार्थो दृश्यमानो निवारय ।
यावद्बाणैर्विनिर्भिन्नः पुनर्नैवं वदिष्यसि ॥२८॥
एवमुक्त्वा ततः पार्थः शरैरस्त्रानुमन्त्रितैः ।
प्रववर्ष दिशः कृत्स्नाः शब्दवेधं च दर्शयन् ॥२९॥
कर्णिनालीकनाराचानुत्सृजन् भरतर्षभ ।
सत्त्वमोघानिषून्मुक्त्वा तृष्णयाभिप्रपीडितः॥३०॥
अनेकैरिषुसंघातैरन्तरिक्षे ववर्ष ह ।

यक्ष उवाच

किं विधानेन ते पार्थ प्रश्नानुक्त्वा ततः पिब ॥३१॥

इस प्रकार रोकने पर अर्जुन बोला कि कौन रोकनेवाला है, मेरे सन्मुख आकर रोको, क्योंकि जिससे मेरे बाणों से विदीर्ण अंग होकर फिर ऐसे नहीं कहेगा॥२८॥ अर्जुन ऐसा कहकर शब्दवेध को दिखाता हुआ दशों दिशाओं में बाणों की वृष्टि करने लगा॥२९॥ वैंशपायनजी राजा जनमेजय से कहते हैं – कि, हे भरतश्रेष्ठ! जब इस प्रकार अर्जुन के छोड़े हुए बाण निष्फल हो गये तब महाकष्ट से पीडित अर्जुन प्यास से व्याकुल हो गया॥३०॥ उसके बाद जब अनेक बाणसमूहों की वर्षा आकाश में की तब फिर यक्ष कहने लगा कि हे पार्थ! इस तेरे वृथा प्रयास से क्या होना है? मेरे प्रश्नों के उत्तर देकर जलपान करो॥३१॥

अनुक्त्वा च पिबन्प्रश्नान्पीत्वैव न भविष्यसि ।
एवमुक्तस्ततः पार्थः सव्यसाची धनञ्जयः ॥३२॥
अवज्ञायैव तां वाचं पीत्वैव निपपात ह ।
अथाब्रवीद्भीमसेनं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥३३॥
नकुलः सहदेवश्च बीभत्सुश्च परंतप ।
चिरं गतास्तोयहेतोर्न चागच्छन्ति भारत ॥३४॥
तांश्चैवानय भद्रं ते पानीयं च त्वमानय ।
भीमसेनस्तथेत्युक्त्वा तं देशं प्रत्यपद्यत ॥३५॥

यत्र ते पुरुषव्याघ्रा भ्रातरोऽस्य निपातिताः ।
तान्दृष्ट्वा दुःखितो भीमस्तृषया च प्रपीडितः ॥३६॥

यदि प्रश्नों के उत्तर दिये बिना ही जलपान करोगे जो जलपान करते ही तुम्हारे भ्राताओं वाली तुम्हारी भी दशा होगी। ऐसा कहने पर पृथा पुत्र सव्यसाची (दोनों हाथों से बाण चलानेवाला) अर्जुन ने॥३२॥ उस वाणी का तिरस्कार करके ज्यों ही जलपान किया त्योंही मूर्च्छित हो पृथ्वी पर गिर पड़ा। इसके बाद कुंतीपुत्र राजा युधिष्ठिर भीमसेन से बोले॥३३॥ हे परंतप! हे भारत! नकुल सहदेव और अर्जुन जल लाने को गये थे बहुत देर हो गई आये नहीं॥३४॥ हे भ्रातः! तुम्हारा कल्याण हो, तुम उन तीनों को भी लाओ और पानी भी लाओ। ऐसा कहने पर भीमसेन 'जो आज्ञा' कहकर उस सरोवर पर पहुँचा जहां कि इसके पुरुषव्याघ्र भ्राता अर्जुन आदि पड़े थे। उनको देखकर प्यास से व्याकुल भीमसेन दुःखित हुआ॥३५॥३६॥

अमन्यत महाबाहुः कर्म तद्यक्षरक्षसाम् ।
स चिन्तयामास तदा योद्धव्यं ध्रुवमद्य वै ॥३७॥
पास्यामि तावत्पानीयमिति पार्थो वृकोदरः ।
ततोऽभ्यधावत्पानीयं पिपासुः पुरुषर्षभः ॥३८॥

यक्ष उवाच

मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा तु कौन्तेय ततः पिब हरस्व च ॥३९॥
एवमुक्तस्तदा भीमो यक्षेणामिततेजसा ।
अनुक्त्वैव तु तान्प्रश्नान्पीत्वैव निपपात ह ॥४०॥

महाबाहु भीमसेन ने विचार किया कि यह किसी यक्ष राक्षस का काम है इसलिये मैं अवश्य उसके साथ युद्ध करूंगा॥३७॥ परन्तु जल तो पी लेता हूँ, ऐसा विचार करके वह पुरुषश्रेष्ठ पृथा का पुत्र भीमसेन ज्योंही जल पीने को चला कि यक्ष बोला॥३८॥ कि हे तात! हे कौंतेय! साहस न करना, प्रथम मेरा बनाया हुआ नियम सुनना कि मेरे प्रश्नों के उत्तर देकर जल पीओ और ले जाओ॥३९॥ अति तेजस्वी यक्ष ने जब भीमसेन से ऐसा कहा तब यक्ष के प्रश्नों के उत्तर दिये बिना ही भीमसेन

ने जलपान कर लिया और जलपान करते ही भीमसेन भी औरों के समान गिर पड़ा।।४०।।

ततः कुन्तीसुतो राजा प्रचिन्त्य पुरुषर्षभः ।
समुत्थाय महाबाहुर्दह्यमानेन चेतसा ।।४१।।
व्यपेतजननिर्घोषं प्रविवेश महावनम् ।
रुरुभिश्च वराहैश्च पक्षिभिश्च निषेवितम् ।।४२।।
नीलभास्वरवर्णैश्च पादपैरुपशोभितम् ।
भ्रमरैरुपगीतं च पक्षिभिश्च महायशाः ।।४३।।
स गच्छन्कानने तस्मिन् हेमजालपरिष्कृतम् ।
ददर्श तत्सरः श्रीमान्विश्वकर्मकृतं यथा ।।४४।।

उसके बाद पुरुषों में श्रेष्ठ और महाबाहु वह कुन्ती का पुत्र राजा युधिष्ठिर दग्ध होते हुए चित्त से चिंतन करके उठा और उठकर।।४१।। उस महावन में प्रविष्ट हुआ जो कि मनुष्यों के शब्दों से रहित था और मृग वराह पक्षियों से भरा था।।४२।। जो नीले देदीप्यमान कांतिवाले वृक्षों से शोभित था और भ्रमर तथा पक्षियों से शब्दित था, ऐसे उस वन में चलते हुए उस महायशा राजा युधिष्ठिर ने सुवर्ण सदृश पुष्पों की केसर के जाल से परिष्कार किये हुए एक सरोवर को देखा, जिसे कि मानों विश्वकर्मा ने रचा हो।।४३।।४४।।

उपेतनलिनीजालैः सिन्दुवारैः सवेतसैः ।
केतकैः करवीरैश्च पिप्पलैश्चैव संवृतम् ।
श्रमार्तस्तदुपागम्य सरो दृष्ट्वाऽथ विस्मितः ।।४५।।

इति श्रीमहाभारते आरण्यके पर्वणि आरणेयपर्वणि नकुलादिपतने
द्वादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ।।३१२।। [२]

जो कमोदिनी, निर्गंडी, वेत इनसे व्याप्त है और केतकी, कनेर, पीपल से युक्त है। श्रम से पीडित हुए राजा युधिष्ठिर वहां पहुँचे और उस सरोवर को देखकर अति आश्चर्य करने लगे।।४५।।

इति श्रीमहाभारते आरण्यके पर्वणि आरणेयपर्वणि हिन्दीटीकायां
नकुलादिपतने द्वादशाऽधिकत्रिशततमोऽध्यायः ।।३१२।। [२]

तीसरा अध्याय

वैशंपायन उवाच

स ददर्श हतान्भ्रातॄँल्लोकपालानिव च्युतान् ।
युगान्ते समनुप्राप्ते शक्रप्रतिमगौरवान् ॥१॥

इतनी कथा कहकर राजा जनमेजय से वैशंपायनजी बोले—हे राजन्! जनमेजय! राजा युधिष्ठिर ने इंद्रतुल्य गौरववाले उन हत भ्राताओं को उस समय इस प्रकार देखा कि मानो युगांत प्रलय में च्युत (अपने अपने लोकों से गिरे हुए) लोकपाल हों॥१॥

विनिकीर्णधनुर्बाणं दृष्ट्वा निहतमर्जुनम् ।
भीमसेनं यमौ चैव निर्विचेष्टान्गतायुषः ॥२॥
स दीर्घमुष्णं निःश्वस्य शोकबाष्पपरिप्लुतः ।
तान्दृष्ट्वा पतितान्भ्रातॄन्सर्वांश्चिन्तासमन्वितः ॥३॥
धर्मपुत्रो महाबाहुर्विललाप सुविस्तरम् ।
ननु त्वया महाबाहो प्रतिज्ञातं वृकोदर ॥४॥
सुयोधनस्य भेत्स्यामि गदया सक्थिनी रणे ।
व्यर्थं तदद्य मे सर्वं त्वयि वीरे निपातिते ॥५॥

हत भ्राताओं को उस समय इस प्रकार देखा कि मानो युगांत प्रलय में च्युंत (अपने अपने लोकों से गिरे हुए) लोकपाल हों॥१॥ अर्जुन को जिसके कि धनुष बाण बिखरे पड़े हैं और चेष्टारहित तथा गतायु भीमसेन, नकुल, और सहदेव को देखकर॥२॥ राजा युधिष्ठिर ने लम्बा श्वास छोड़ा। शोकबाष्प से युक्त और चिंता से व्याप्त धर्मपुत्र महाबाहु राजा युधिष्ठिर, पड़े हुए संपूर्ण भ्राताओं को देखकर बारंबार विलाप करने लगे कि हे महाबाहो! हे वृकोदर! तुमने तो प्रतिज्ञा की थी कि मैं युद्ध में दुर्योधन की जंघाओं को गदा से विदीर्ण करूंगा। इसलिये हे वीर! तेरे पड़ने से मेरा वह सब विचार निरर्थक हो गया॥३—५॥

महात्मनि महाबाहो कुरूणां कीर्तिवर्धने ।
मनुष्यसंभवा वाचो विधर्मिण्यः प्रतिश्रुताः ॥६॥
भवतां दिव्यवाचस्तु ता भवन्तु कथं मृषा ।
देवाश्चापि यदावोचन्सूतके त्वां धनञ्जय ॥७॥
सहस्राक्षादनवरः कुन्ति पुत्रस्तवेति वै ।
उत्तरे पारियात्रे च जगुर्भूतानि सर्वशः ॥८॥
विप्रनष्टां श्रियं चैषामाहर्ता पुनरञ्जसा ।
नास्य जेता रणे कश्चिदजेता नैष कस्यचित् ॥९॥

हे महाबाहो! हे अर्जुन! कौरवों की कीर्ति बढ़ाने वाले प्रतिज्ञा की हुई मनुष्य वाणी आज तुझमें असत्य हो गई परंतु॥६॥ तुम्हारी देववाणी तो कैसे असत्य होगी कि, जो सूतक में ही देवताओं ने तुम्हारे बारे में कहा था कि॥७॥ हे कुन्ती! यह तेरा पुत्र इन्द्र से कुछ कम न होगा, उत्तर पारियात्र में अर्थात् विंध्याचल के पश्चिम प्रदेश में सब जगह इसका यश गाया जायगा॥८॥ नष्ट हुई भी पांडवों की लक्ष्मी को यह फिर लाकर प्राप्त कर देगा और रण में कोई भी इसको जीतने वाला न होगा और ऐसा भी कोई न होगा कि जिसको यह न जीत सके॥९॥

सोऽयं मृत्युवशं यातः कथं जिष्णुर्महाबलः ।
अयं ममाशां संहृत्य शेते भूमौ धनंजयः ॥१०॥
आश्रित्य यं वयं नाथं दुःखान्येतानि सेहिम् ।
रणे प्रमत्तौ वीरौ च सदा शत्रुनिबर्हणौ ॥११॥
कथं रिपुवशं यातौ कुन्तीपुत्रौ महाबलौ ।
यौ सर्वास्त्राप्रतिहतौ भीमसेनधनञ्जयौ ॥१२॥
अश्मसारमयं नूनं हृदयं मम दुर्हृदः ।
यमौ यदेतौ दृष्ट्वाद्य पतितौ नावदीर्यते ॥१३॥

ऐसा यह महाबली अर्जुन भी कैसे मृत्यु के वश हो गया। अहो, यह धनंजय मेरी आशा को नष्ट करके कैसे पृथ्वी पर सो गया॥१०॥ हाय! हमने तो इसी समर्थ के आश्रित होकर इन दुःखों को सहते रहे रण में सर्वदा शत्रुओं को नष्ट करने वाले प्रमत्त और महावीर॥११॥

महाबलवान् कुन्ती के पुत्र भीमसेन और अर्जुन सम्पूर्ण शस्त्र अस्त्रों से अवध्य होने पर भी कैसे शत्रु के वश हो गये॥१२॥ हाय! दुष्ट हृदयवाले मेरा हृदय निश्चय ही वज्र का हैं, क्योंकि जो पड़े हुए इन नकुल सहदेव को देखकर भी नहीं फटता है॥१३॥

शास्त्रज्ञा देशकालज्ञास्तपोयुक्ताः क्रियान्विताः ।
अकृत्वा सदृशं कर्म किं शेध्वं पुरुषर्षभाः ॥१४॥
अविक्षतशरीराश्चाप्यप्रमृष्टशरासनाः ।
असंज्ञा भुवि संगम्य किं शेध्वमपराजिताः ॥१५॥
सानूनिवाद्रेः संसुप्तान्दृष्ट्वा भ्रातॄन्महामतिः ।
सुखं प्रसुप्तान्प्रस्विन्नः खिन्नः कष्टां दशां गतः ॥१६॥
एवमेवेदमित्युक्त्वा धर्मात्मा स नरेश्वरः ।
शोकसागरमध्यस्थो दध्यौ कारणमाकुलः ॥१७॥

अहो शास्त्रों के जानने वाले देशकाल के जानने वाले तपस्वी क्रियाओं से युक्त ये पुरुषश्रेष्ठ अपने सदृश कर्म नहीं करके क्यों पृथ्वी पर सो गये॥१४॥ अहो, कहीं न इनके शरीर पर घाव हुवा, न कोई धनुष बाण टूटे, फिर भी ये अजेय वीर किस कारण संज्ञा रहित हुए पृथ्वी पर सोते हैं॥१५॥ महामति राजा युधिष्ठिर के, सुखपूर्वक सोते हुए पर्वत के शिखरों की तरह अपने भ्राताओं को देखकर, अतिदु:खित होने के कारण शरीर में पसीने आ गये और उन्हें बहुत क्लेश हुआ॥१६॥ 'यह ऐसा ही होना था' इस प्रकार कहकर वह धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर शोकसागर में डूबा व्याकुल हुआ कारण ढूंढ़ने लगा॥१७॥

इतिकर्तव्यतां चेति देशकालविभागवित् ।
नाभिपेदे महाबाहुश्चिन्तयानो महामतिः ॥१८॥
अथ संस्तभ्य धर्मात्मा तदात्मानं तपःसुतः ।
एवं विलप्य बहुधा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥१९॥
बुद्धया विचिन्तयामास वीराःकेन निपातिताः ॥२०॥
नैषां शस्त्रप्रहारोऽस्ति पदं नेहास्ति कस्यचित् ।
भूतं महदिदं मन्ये भ्रातरो येन मे हताः ॥२१॥

देशकाल के विभाग को जानने वाला वह महाबाहु और महामति राजा युधिष्ठिर चिन्तन करता भी 'यह किसका किया हुआ कर्म है' यह नहीं जान सका॥१८॥ इस प्रकार बहुत प्रकार से विलाप कर वह धर्मपुत्र धर्मात्मा तपस्वी राजा युधिष्ठिर अपनी आत्मा धैर्य धारण करता हुआ बुद्धि से चिंतन करने लगा कि इन वीरों को किसने गिरा दिया है॥१९-२०॥ न इनके उपर शस्त्र का प्रहार है, न किसी का यहां स्थान है, कोई बड़ा भारी कारण है कि जिससे मेरे भ्राता हत हुए हैं॥२१॥

एकाग्रं चिन्तयिष्यामि पीत्वा वेत्स्यामि वा जलम् ।
स्यात्तु दुर्योधनेनेदमुपांशु विहितं कृतम् ॥२२॥
गान्धारराजचरितं सततं जिह्मबुद्धिना ।
यस्य कार्यमकार्यं वा सममेव भवत्युत ॥२३॥
कस्तस्य विश्वसेद्वीरो दुष्कृतेरकृतात्मनः ।
अथवा पुरुषैर्गूढैः प्रयोगोऽयं दुरात्मनः ॥२४॥
भवेदिति महाबुद्धिर्बहुधा तदचिंतयत् ।
तस्यासीन्न विषेणेदमुदकं दूषितं यथा ॥२५॥
मृतानामपि चैतेषां विकृतं नैव जायते ।
मुखवर्णाः प्रसन्ना मे भ्रातृणामित्यचिंतयत् ॥२६॥

जलपान करके एकान्तमें मैं इस पर चिंतन करूंगा क्योंकि कदाचित् दुर्योधन ने ही एकांत में यह काम न किया हो॥२२॥ अथवा जिसके अच्छा और बुरा दोनों कार्य समान है, ऐसे कुटिल बुद्धि गांधार राज (शकुनी) का काम है? ॥२३॥ अथवा बुरा कर्म करने वाले और अकृतात्मा उस दुर्योधन का कौन विश्वास करे कि कभी दुरात्माने किसी गूढ़पुरुषों द्वारा यह प्रयोग कराया हो॥२४॥ वह महाबुद्धि बहुत प्रकार से चिंतन करने लगा कि कहीं इस सरोवर का जल ही विष से दूषित न हो॥२५॥ लेकिन जल तो विषदूषित नही होना चाहिये क्योंकि मरे हुये भी मेरे भ्राताओं में विकृति नहीं आई हैं, इनके मुखवर्ण प्रसन्न हैं॥२६॥

एकैकशश्चाधैबलानिमान्पुरुषसत्तमान् ।
कोऽन्यः प्रतिसमासेत कालान्तकयमादृते ॥२७॥
एतेन व्यवसायेन तत्तोयं व्यवगाढवान् ।
गाहमानश्च तत्तोयमन्तरिक्षात्स शुश्रुवे ॥२८॥

यक्ष उवाच

अहं बकः शैवलमत्स्यभक्षो नीता मया प्रेतवशं तवानुजाः ।
त्वं पञ्चमो भविता राजपुत्र न चेत्प्रश्नान्पृच्छतो व्याकरोषि ॥२९॥

इन एक एक भी महाबलवान् श्रेष्ठ पुरुषों के सामने कालांतक धर्मराज के बिना अन्य कौन युद्ध में खड़ा हो सकता है॥२७॥ ऐसा निश्चय करके जैसे ही सरोवर का जलपान करने को जले वैसे ही आकाशवाणी सुनाई पड़ी॥२८॥ यक्ष कहने लगा कि, हे राजपुत्र! मैं सिवाल और मछली खाने वाला बगला हूँ और मेरे द्वारा ही तुम्हारे इन चारों छोटे भाइयों की यह दशा हुई है, यदि तुम पांचवे भी मेरे पूछे हुए प्रश्नों का उत्तर न दोगे तो तुम्हारी भी यही दशा होगी॥२९॥

मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वातु कौन्तेय ततः पिब हरस्व च ॥३०॥

युधिष्ठिर उवाच

रुद्राणां वा वसूनां वा मरुतां वा प्रधानभाक् ।
पृच्छामि को भवान्देवो नैतच्छकुनिना कृतम् ॥३१॥
हिमवान्पारियात्रश्च विन्ध्यो मलय एव च ।
चत्वारः पर्वताः केन पातिता भूरितेजसः ॥३२॥
अतीव ते महत्कर्म कृतं च बलिनां वर ।
यान्न देवा न गन्धर्वा नासुराश्च न राक्षसाः ॥३३॥
विषहेरन्महायुद्धे कृतं ते तन्महाद्भुतम् ।
न ते जानामि यत्कार्यं नाभिजानामि काङ्क्षितम्॥३४॥

हे तात! हे कौन्तेय! साहस मत करो, मेरे नियम के अनुसार मेरे प्रश्नों के उत्तर देकर जल पीओ और ले जाओ॥३०॥ ऐसा सुनकर राजा युधिष्ठिर बोले–ग्यारह रुद्रों में, आठ वस्तुओं में अथवा नौ पवनों में आप कौनसे प्रधान देव हैं, क्योंकि पक्षी का (बगुला का) यह काम नहीं

हो सकता हैं॥३१॥ अहो! हिमवान् पारियात्र, विंध्याचल तथा मलयाचल के समान बड़े तेजस्वी मेरे चारों भाइयों को किसने गिराया॥३२॥ हे बलियों में श्रेष्ठ! आपने यह बड़ा भारी काम किया है जिसको देव, गंधर्व, असुर और राक्षस कोई भी महायुद्ध में परास्त नहीं कर सकते हैं। इनको आपने परास्त कर दिया परन्तु आपने यह कार्य क्यों किया है और किस इच्छा से किया है। मैं नहीं जानता हूँ॥३३-३४॥

कौतूहलं महज्जातं साध्वसं चागतं मम ।
येनाऽस्म्युद्विग्नहृदयः समुत्पन्नशिरोज्वरः ॥३५॥
पृच्छामि भगवंस्तस्मात्को भवानिह तिष्ठति ।

यक्ष उवाच

यक्षोऽहमस्मि भद्रं ते नास्मि पक्षी जलेचरः ॥३६॥
मयैते निहताः सर्वे भ्रातरस्ते महौजसः ।

वैशंपायन उवाच

ततस्तामशिवा श्रुत्वा वाचं स परुषाक्षराम् ॥३७॥
यक्षस्य ब्रुवतो राजन्नुपक्रम्य तदा स्थितः ।
विरूपाक्षं महाकायं यक्षं तालसमुच्छ्रयम् ॥३८॥

आपके इस कार्य से मुझे भारी आश्चर्य हुआ है और दुःख भी है, इसी कारण मेरा हृदय उद्विग्न हो रहा है तथा मस्तक में पीड़ा हो रही है॥३५॥ इसलिये हे भगवन्! मैं आपसे पूछता हूँ कि आप कौन हैं? यह सुनकर यक्ष बोला—हे राजन् आपका कल्याण हो, मैं जलचर पक्षी नहीं हूँ किंतु यक्ष हूँ॥३६॥ आपके इन सभी महापराक्रमी भाइयों को मारा है। वैशंपायनजी कि हे, राजन् जनमेजय! उसके बाद उस यक्ष के ऐसा कहने पर उस कठोर अक्षरों वाली अमङ्गल वाणी को सुनकर राजा युधिष्ठिर सावधानी से स्थित हुए और भयंकर नेत्र वाले विशाल शरीरी, तालके समान ऊंचे॥३७-३८॥

ज्वलनार्कप्रतीकाशमधृष्यं पर्वतोपमम् ।
वृक्षमाश्रित्य तिष्ठन्तं ददर्श भरतर्षभः ॥३९॥
मेघगम्भीरनादेन तर्जयन्तं महास्वनम् ।

यक्ष उवाच

इमे ते भ्रातरो राजन्वार्यमाणा मयाऽसकृत्॥४०॥

देदीप्यमान अग्नि के सदृश तेजस्वी, पर्वत के सदृश, वृक्ष का आश्रय लेकर खड़े हुए उस यक्ष को देखा॥३९॥ मेघ सदृश गम्भीर वाणी से महा शब्दों को झिड़कता हुवा वह यक्ष बोला—हे राजन्! मैंने आपके इन भाइयों को बार बार रोका भी॥४०॥

बलात्तोयं जिहीर्षन्तस्ततो वै मृदिता मया ।
न पेयमुदकं राजन्प्राणानिह परीप्सता ॥४१॥
पार्थ मा साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वातु कौन्तेय ततः पिब हरस्व च ॥४२॥

युधिष्ठिर उवाच

न चाहं कामये यक्ष तव पूर्वपरिग्रहम् ।
कामं नैतत्प्रशंसन्ति सन्तो हि पुरुषाः सदा ॥४३॥

परन्तु इन्होंने मेरा कहा नहीं माना और जबरदस्ती जल लेने को दौड़े इसी कारण मेरे द्वारा मर्दित होकर पड़े हैं। हे राजन्! प्राणों को चाहते हुए आप भी यह जलपान नहीं करना॥४१॥ हे पार्थ! हे कौंतेय! आप भी वृथा साहस न करें, मेरा नियम है कि मेरे प्रश्नों का उत्तर देकर जल पीओ और ले जाओ॥४२॥ यह सुन राजा युधिष्ठिर बोले, हे यक्ष! यद्यपि मैं आपके पूर्व नियमानुसार उत्तर देने की इच्छा नहीं रखता हूँ क्योंकि संत पुरुष सदा ऐसे पक्षपात की श्लाघा नहीं करते हैं॥४३॥

यदात्मना स्वमात्मानं प्रशंसेत्पुरुषर्षभ ।
यथाप्रज्ञं तु ते प्रश्नान्प्रतिवक्ष्यामि पृच्छ माम् ॥४४॥

यक्ष उवाच

किंस्विदादित्यमुन्नयति के च तस्याभितश्चराः ।
कश्चैनमस्तं नयति कस्मिश्च प्रतितिष्ठति ॥४५॥

युधिष्ठिर उवाच

ब्रह्मादित्यमुन्नयति देवास्तस्याभितश्चराः ।
धर्मश्चास्तं नयति च सत्ये च प्रतितिष्ठति ॥४६॥

इसीलिये हे पुरुषश्रेष्ठ! मैं स्वयम् अपनी प्रशंसा नहीं करता कि मैं

आपके प्रश्नों के सही उत्तर दे ही दूंगा, हां आप पूछिये, अपनी बुद्धि के अनुसार मैं आपके प्रश्नों का उत्तर दूंगा॥४४॥ अव यहां से प्रश्नोत्तरमालिका हैं। इसमें यक्षरूपी धर्म द्वारा किये गये आत्मतत्व निर्णयकारी प्रश्न हैं, और युधिष्ठिर द्वारा दिये गये उत्तर हैं। इनके ज्ञान से पुरुष सहज ही शोकादिकों को सह जाता है।

यक्ष प्रश्न—सूर्य का उदय कौन करता है? १। इसके चारों तरफ होनेवाले कौन हैं? २। इसका अस्त करनेवाला कौन है? ३। यह सूर्य स्थित किसमें हैं?॥४॥४५॥

युधिष्ठिर कृत उत्तर—सूर्यतुल्य जीव को वेद उदय करता है अर्थात् देहादि अभिमानरूप अज्ञान से छुड़ा कर ब्रह्मस्वरूप करता है १। इसके चारों तरफ शमदम आदि रहते हैं अर्थात् विना शम दम आदि के वेदवेत्ता भी नहीं जान सकता २। इसको अस्त करनेवाला धर्म है अर्थात् इस आत्मा को हृदयाकाश में धर्म ही प्राप्त कर सकता है ३। यह सत्य में स्थित है अर्थात् सब का अधिभूत जो ब्रह्म है उसी में यह आत्मा प्रकाशता है॥४॥४६॥

यक्ष उवाच

केनस्विच्छ्रोत्रियो भवति केनस्विद्विंदते महत् ।
केनस्विद्द्वितीयवान्भवति राजन्केनचबुद्धिमान्॥४७॥

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतेन श्रोत्रियो भवति तपसा विन्दते महत् ।
वृत्या द्वितीयवान्भवति बुद्धिमान्वृद्धसेवया ॥४८॥

य० प्र०—ब्राह्मण क्या करने से श्रोत्रिय होता है? १। ब्रह्म को कैसे प्राप्त होता है? २। और दूसरे वाला कैसे होता है? ३। हे राजन्! बुद्धिमान् कैसे होता है?॥४॥

यु० उ०—वेद पढ़ने से ब्राह्मण श्रोत्रिय होता है १। तप करने से परब्रह्म को प्राप्त होता है २। धृति से दूसरे वाला होता है ३। वृद्धसेवा करने से

बुद्धिमान् होता है ४॥४७-४८॥

यक्ष उवाच

किं ब्राह्मणानां देवत्वं कश्च धर्मः सतामिव ।
कश्चैषां मानुषो भावः किमेषामसतामिव ॥४९॥

युधिष्ठिर उवाच

स्वाध्याय एषां देवत्वं तप एषां सतामिव ।
मरणं मानुषो भावः परिवादोऽसतामिव ॥५०॥

यक्ष उवाच

किं क्षत्रियाणां देवत्वं कश्च धर्मः सतामिव ।
कश्चैषां मानुषो भावः किमेषामसतामिव ॥५१॥

य० प्र०—ब्राह्मणों का देवत्व क्या है? १। सत्पुरुषों का धर्म क्या है? २। इनके मानुषभाव क्या है? ३ । तथा असद्भाव क्या है? ४॥४९॥

यु० उ०—वेदों का पढ़ना ब्राह्मणों का देवत्व है १। तप ही इनका संद्धर्म है २। मरण ही इनका मानुषभाव है ३। दूषण निकालना ही इनके असद्भाव है ४॥॥५०॥

य० प्र०—क्षत्रियों के देवत्व क्या है? १। इनका श्रेष्ठ धर्म क्या है? २। इनका मनुष्यभाव क्या है! ३। और इनका असत् आचरण क्या है? ४॥५१॥

युधिष्ठिर उवाच

इष्वस्त्रमेषां देवत्वं यज्ञ एषां सतामिव ।
भयं वै मानुषो भावः परित्यागोऽसतामिव ॥५२॥

यक्ष उवाच

किमेकं यज्ञियं साम किमेकं यज्ञियं यजुः ।
का चैषां वृणुते यज्ञं कां यज्ञो नातिवर्तते ॥५३॥

युधिष्ठिर उवाच

प्राणो वै यज्ञियं साम मनो वै यज्ञियं यजुः ।
ऋगेका वृणुते यज्ञं कां यज्ञो नातिवर्तते ॥५४॥

यु० उ०—बाण विद्या ही क्षत्रियों का परम दैवतां है १। यज्ञ करना ही इनका श्रेष्ठ आचरण है २। भय ही मानुषभाव है ३। शरणागतों का त्यागना ही इनका असत्कर्म है ४।।५२।।

य० प्र०—यज्ञसबंधी सामवेद क्या है? १। और यज्ञसबंधी यजुर्वेद क्या है? २। वेदों में यज्ञ को कौन अंगीकार करता है? ३। और किसको यज्ञ उल्लंघन करके नहीं वर्तते हैं? ४।।५३।।

यु० उ०—एक प्राण ही यज्ञसम्बन्धी साम है १। और मन ही यज्ञसबंधी यजु है २। एक ऋक् ही यज्ञ को अंगीकार करता है ३। और यज्ञ ही इसको उल्लंघन करके नहीं वर्तते हैं ४।५४।।

यक्ष उवाच

किंस्विदावपतां श्रेष्ठं किंस्विन्निर्वपतां वरम् ।
किंस्वित्प्रतिष्ठमानानां किंस्वित्प्रसवतां वरम् ।।५५।।

युधिष्ठिर उवाच

वर्षमावपतां श्रेष्ठं बीजं निर्वपतां वरम् ।
गावः प्रतिष्ठमानानां पुत्रः प्रसवतां वरः ।।५६।।

य० प्र०—देवताओं को तृप्त करने वालों को उत्तमफल क्या है? १। और पितरों को तृप्त करनेवालों को उत्तम फल क्या हैं? २। प्रतिष्ठा चाहने वालों को श्रेष्ठ क्या है? ३। और संततिवालों को श्रेष्ठ क्या है?४।।५५।।

यु० उ०—देवताओं को तृप्त करने वालों को उत्तम फल वृष्टि है १। और पितरों को तृप्त करने वालों को बीज अर्थात् क्षेत्र आराम आयु संतति आदि उत्तम फल हैं २। प्रतिष्ठा चाहने वालों को गौ श्रेष्ठ फल हैं ३। और संतति चाहने वालों को पुत्र उत्तम फल है ४।।५६।।

यक्ष उवाच

इन्द्रियार्थाननुभवन्बुद्धिमाँल्लोकपूजितः ।
संमतः सर्वभूतानामुच्छ्वसन्को न जीवति ।।५७।।

युधिष्ठिर उवाच

देवतातिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः ।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥५८॥

यक्ष उवाच

किं स्विद्गुरुतरं भूमेः किंस्विदुच्चतरं च खात् ।
किं स्विच्छीघ्रतरं वायोः किं स्विद्बहुतरं तृणात्॥५९।

य० प्र०—विषयों को अनुभव करता हुआ बुद्धिमान् कौन है? १। लोकपूजित कौन है? २। सम्पूर्ण प्राणियों को संमत (प्रिय) कौन है? ३। श्वास लेता हुआ भी मृतक कौन है? ४॥५७॥

यु० उ०—देवता अतिथि और भृत्य (नौकर) इनको संतुष्ट करके जो विषयों को भोगता है वह बुद्धिमान् है १। जो पितरों को तृप्त करता है वही लोकपूजित है २। जो संपूर्ण प्राणियों को आत्मतुल्य देखता है वही सबका प्रिय है ३। जो मनुष्य, देवता, अतिथि, भृत्य, पितर और आत्मा इन पांचो को तृप्त नहीं करता है वही श्वास लेता हुआ भी मृतक है ४॥५८॥

य० प्र०—पृथ्वी से बड़ा कौन है? १। आकाश से ऊंचा कौन है? २। वायु से शीघ्र वेगवाला कौन है? ३। तृण से अतितुच्छ क्या है? ४॥५९॥

युधिष्ठिर उवाच

माता गुरुतरा भूमेः खात्पितोच्चतरस्तथा ।
मनः शीघ्रतरं वाताच्चिन्ता बहुतरी तृणात् ॥६०॥

यक्ष उवाच

किंस्वित्सुप्तं न निमिषति किंस्विज्जातं न चोपति ।
कस्यस्विद्धृदयं नास्ति किंस्विद्वेगेन वर्धते ॥६१॥

युधिष्ठिर उवाच

मत्स्यः सुप्तो न निमिषत्यण्डं जातं न चोपति ।
अश्मनो हृदयं नास्ति नदी वेगेन वर्धते ॥६२॥

यु० उ०—माता पृथ्वी से बड़ी है १। पिता आकाश से ऊंचा है २।मन वायु से शीघ्रवेग वाला है ३। चिंता तृण से भी तुच्छ है ४।।६०।।

य० प्र०—सोया हुआ कौन नहीं जागता है? १। जन्मा हुआ कौन नहीं चलता है? २। हृदय किसके नहीं है? ३। वेग से कौन बढ़ता है? ४।।६१।।

यु० उ०—सोया हुआ मत्स्य नहीं जागता अर्थात् अपने स्थान को प्राप्त होकर अन्यत्र गमन नहीं करता। अथवा मत्स्य सदृश यह जीव ब्रह्म को प्राप्त होकर ज्ञाननिद्रा में सोया हुआ फिर नहीं जागता १। जन्मा हुआ अंड चलता नहीं अथवा यह ब्रह्मांड चलता नहीं २। पत्थर के हृदय नहीं होता अथवा शोक मोह आदि का स्थान हृदय योगी के नहीं होता है ३। वेग से बढ़ने वाली नदी है अथवा सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त ऐसे योगी की चित्तरूप नदी है ४।।६२।।

यक्ष उवाच

किंस्वित्प्रवसतो मित्रं किंस्विमिन्त्रं गृहे सतः ।
आतुरस्य च किं मित्रं किंस्विन्मित्रं मरिष्यतः ।।६३।।

युधिष्ठिर उवाच

सार्थः प्रवसतो मित्रं भार्या मित्रं गृहे सतः ।
आतुरस्य भिषङ्मित्रं दानं मित्रं मरिष्यतः ।।६४।।

य० प्र०—प्रवासी का मित्र कौन है १। गृहस्थ का मित्र कौन है? २। रोगी का मित्र कौन है? ३। मरनेवाले का मित्र कौन है? ४।।६३।।

यु० उ०—संग प्रवास वाले का मित्र है १। स्त्री, गृहस्थ की मित्र है २। औषध, रोगी का मित्र ३। दान मरने वाले का मित्र है ४।।६४।।

यक्ष उवाच

कोऽतिथिः सर्वभूतानां किंस्विद्धर्मं सनातनम् ।
अमृतं किंस्विद्राजेन्द्र किंस्वित्सर्वमिदं जगत् ।।६५।।

युधिष्ठिर उवाच

अतिथिः सर्वभूतानामग्निः सोमो गवामृतम् ।
सनातनोऽमृतो धर्मो वायुः सर्वमिदं जगत् ॥६६॥

यक्ष उवाच

किंस्विदेको विचरते जातः को जायते पुनः ।
किंस्विद्धिमस्य भैषज्यं किंस्विदावपनं महत् ॥६७॥

य० प्र०–संपूर्ण प्राणियों का अतिथि कौन है? १। सनातन धर्म क्या है? २। अमृत क्या है? ३। हे राजेन्द्र! संपूर्ण जगत् में व्याप्त कौन है? ४॥६५॥

यु० उ०–संपूर्ण प्राणियों का अतिथि (पूज्य) अग्नि है १। गायों का दूध अमृत है २। गायों की रक्षा यही सनातन धर्म है ३। संपूर्ण जगत् में व्याप्त वायु है ४॥६६॥

य० प्र०–अकेला कौन विचरता है? १। जन्म पाकर फिर कौन जन्मता है? २। ठंडी की औषधि क्या है? ३। बड़ा क्षेत्र कौनसा है? ४॥६७॥

युधिष्ठिर उवाच

सूर्य एको विचरते चन्द्रमा जायते पुनः ।
अग्निर्हिमस्य भैषज्यं भूमिरावपनं महत् ॥६८॥

यक्ष उवाच

किंस्विदेकपदं धर्म्यं किंस्विदेकपदं यशः ।
किंस्विदेकपदं स्वर्ग्यं किंस्विदेकपदं सुखम् ॥६९॥

युधिष्ठिर उवाच

दाक्ष्यमेकपदं धर्म्यं दानमेकपदं यशः ।
सत्यमेकपदं स्वर्ग्यं शीलमेकपदं सुखम् ॥७०॥

यु० उ०–सूर्य अकेला विचरता है १। चन्द्रमा जन्म पाकर फिर जन्मता है अर्थात् घटता बढ़ता है २। अग्नि ठंडी की औषधि है ३। पृथ्वी सबके बोने का बड़ा क्षेत्र है ४॥६८॥

य० प्र०—धर्म का मुख्य स्थान कौन सा है? १। यश का मुख्य स्थान कौनसा है? २। स्वर्ग का मुख्य स्थान कौनसा है? ३। सुख का मुख्य स्थान कौनसा है? ४॥६९॥

यु० उ०—धर्म का मुख्य स्थान दाक्ष्य अर्थात् चातुर्य है १। यश का मुख्य स्थान दान है २। स्वर्ग का मुख्य स्थान सत्य है ३। सुख का मुख्य स्थान शील है ४॥७०॥

यक्ष उवाच

किंस्विदात्मा मनुष्यस्य किंस्विद्दैवकृतः सखा ।
उपज्जीवनं किंस्विदस्य किंस्विदस्य परायणम्॥७१॥

युधिष्ठिर उवाच

पुत्र आत्मा मनुष्यस्य भार्या दैवकृतः सखा ।
उपजीवनं च पर्जन्यो दानमस्य परायणम् ॥७२॥

य० प्र०—मनुष्य का आत्मा कौन है? १। दैव का किया हुआ मनुष्य का मित्र कौन है? २। मनुष्य का उपजीवन कौन है? ३। मनुष्य को पालन करनेवाला कौन है? ४॥७१॥

यु० उ०—मनुष्य का आत्मा पुत्र है १। दैव का किया हुआ मनुष्य का मित्र स्त्री है २। मनुष्य का उपजीवन मेघ है ३। मनुष्य का पालन करनेवाला दान है ४॥७२॥

यक्ष उवाच

धन्यानामुत्तमं किंस्विद्धनानां स्यात्किमुत्तमम् ।
लाभानामुत्तमं किं स्यात्सुखानां स्यात्किमुत्तमम्॥७३।

युधिष्ठिर उवाच

धन्यानामुत्तमं दाक्ष्यं धनानामुत्तमं श्रुतम् ।
लाभानां श्रेय आरोग्यं सुखानां तुष्टिरुत्तमा॥७४॥

यक्ष उवाच

कश्च धर्मः परो लोके कश्च धर्मः सदाफलः ।
किं नियम्य न शोचन्ति कैश्च सन्धिर्न जीर्यते ॥७५॥

युधिष्ठिर उवाच

आनृशंस्यं परो धर्मस्त्रयीधर्मः सदाफलः ।
मनो यम्य न शोचन्ति सन्धिः सद्भिर्न जीर्यते ।।७६।।

य० प्र०–धन्यों में उत्तम धन्य कौन है? १। धनों में उत्तम धन क्या है? २। लाभों में उत्तम लाभ कौनसा है? ३। सुखों में उत्तम सुख क्या है? ४।।७३।।

यु० उ०–धन्यों में उत्तम धन्य वह है जिसके परोपकाररूप चातुर्य है १। धनों में उत्तम धन विद्या है २। लाभों में उत्तम लाभ आरोग्य है ३। सुखों में उत्तम सुख संतोष है ४।।७४।।

य० प्र०–लोक में श्रेष्ठ धर्म कौनसा है? १। सदाफल धर्म कौनसा है? २।किसको वश करके मनुष्य शोच नहीं करता है?३। किनके साथ की हुई मैत्री छूटती नहीं है? ।४।।७५।।

यु० उ०–संन्यास लोको में श्रेष्ठ धर्म है १। सदा फल देनेवाला धर्म यज्ञ है २। मन को वश करके मनुष्य शोचते नहीं हैं ३। सज्जनों की मैत्री छूटती नहीं है ४।।७६।।

यक्ष उवाच

किं नु हित्वा न प्रियो भवति किं नु हित्वा न शोचति ।
किं नु हित्वार्थवान् भवति किं नु हित्वा सुखीभवेत् ।।७७।।

युधिष्ठिर उवाच

मानं हित्वा प्रियो भवति क्रोधं हित्वा न शोचति ।
कामं हित्वार्थवान्भवति लोभं हित्वा सुखी भवेत् ।।७८।।

य० प्र०–क्या छोड़ने से मनुष्य प्रिय होता है? १। क्या छोड़ने से मनुष्य शोच नहीं करता है? २। क्या छोड़ने से मनुष्य अर्थ (धन) वान् होता है? ३। क्या छोड़ने से मनुष्य सुखी होता है?४।।७७।।

यु० उ०—मान को छोड़कर मनुष्य प्रिय होता है? १। क्रोध को छोड़कर मनुष्य शोच नहीं करता है २। काम (इच्छा) को छोड़कर मनुष्य अर्थवान् होता है ३। लोभ को छोड़कर मनुष्य सुखी होता है ४॥७८॥

यक्ष उवाच

किमर्थं ब्राह्मणे दानं किमर्थं नटनर्तके ।
किमर्थं चैव भृत्येषु किमर्थं चैव राजसु ॥७९॥

युधिष्ठिर उवाच

धर्मार्थं ब्राह्मणे दानं यशोर्थं नटनर्तके ।
भृत्येषु भरणार्थं वै भवार्थं चैव राजसु ॥८०॥

यक्ष उवाच

केनस्विदावृतो लोकः केनस्विन्न प्रकाशते ।
केन त्यजति मित्राणि केन स्वर्गं न गच्छति ॥८१॥

युधिष्ठिर उवाच

अज्ञानेनावृत्तो लोकस्तमसा न प्रकाशते ।
लोभात्यज्यति मित्राणि सङ्गात्स्वर्गं न गच्छति ॥८२॥

य० प्र०—ब्राह्मण के लिये दान क्यों दिया जाता है? १। नट नर्तक के लिये क्यों दिया जाता है? २। नौकरों को किसलिये दिया जाता है? ३। राजाओं को किसलिये दिया जाता है? ४॥७९॥

यु० उ०—ब्राह्मणों को धर्म के लिए दान दिया जाता है १। नट नर्तकों को यश के लिये दान दिया जाता है २। नौकरों को पोषण के लिये दान दिया जाता है ३। राजाओं को अपने प्रताप के उदय के लिये दान दिया जाता है ४॥८०॥

य० प्र०—मनुष्य किससे आच्छादित रहता है? १। मनुष्य किससे प्रकाश नहीं करता है? २। मित्रों को किस कारण से त्याग देता है? ३। स्वर्ग को किस कारण से नहीं जा सकता है? ४॥८१॥

यु० उ०—मनुष्य अज्ञान से आच्छादित (ढका हुआ) रहता है १। तमोगुण से प्रकाश नहीं करता है २। मनुष्य लोभ से मित्रों को त्याग देता है ३। कुसंग से मनुष्य स्वर्ग को नहीं जा सकता है ४॥८२॥

यक्ष उवाच

मृतः कथं स्यात्पुरुषः कथं राष्ट्रं मृतं भवेत् ।
श्राद्धं मृतं कथं वा स्यात्कथं यज्ञो मृतो भवेत् ॥८३॥

युधिष्ठिर उवाच

मृतो दरिद्रः पुरुषो मृतं राष्ट्रमराजकम् ।
मृतमश्रोत्रियं श्राद्धं मृतो यज्ञस्त्वदक्षिणः ॥८४॥

य० प्र०—मृतक के समान पुरुष कौन होता है? १। मृतक के समान देश कौनसा होता है? २। मृतक् अर्थात् नहीं किया सा श्राद्ध कौनसा होता है? ३। मृतक अर्थात् नहीं किया सा यज्ञ कौनसा होता है? ४॥८३॥

यु० उ०—दरिद्र पुरुष मृतक के समान होता है १। राजा के बिना देश मृतक के समान होता है २। वेदपाठी ब्राह्मण के बिना श्राद्ध मृतक के समान होता है? ३। दक्षिणा के बिना यज्ञ मृतक के समान होता है ४॥८४॥

यक्ष उवाच

का दिक्किमुदकं प्रोक्तं किमन्नं किं च वै विषम् ।
श्राद्धस्य कालमाख्याहि ततः पिब हरस्व च ॥८५॥

युधिष्ठिर उवाच

सन्तो दिग्जलमाकाशं गौरन्नं प्रार्थना विषम् ।
श्राद्धस्य ब्राह्मणः कालः कथं वा यक्ष मन्यसे ॥८६॥

य० प्र०—दिशाओं में उत्तम दिशा कौनसी है? १। जलों में उत्तम जल कौनसा है? २। अन्नों में उत्तम अन्न कौनसा है? ३। विषों में उग्र विष कौनसा है? ४। श्राद्ध का उत्तम काल क्या है? ५। हे राजन्! इन मेरे प्रश्नों का उत्तर करके जलपान करो और ले भी जाओ॥८५॥

यु० उ०—संतजन उत्तम दिक् अर्थात् शुभमार्ग बतानेवाले हैं १। उत्तम

जल मेघ का है २। अन्न जीवनरूप गौ है ३। याचना उग्र विष है ४। श्राद्ध का काल वह है कि जब उत्तम ब्राह्मण मिले ५। हे यक्ष! मैं तो ऐसा मानता हूँ, आप कैसा मानते हैं, कहिये॥८६॥

यक्ष उवाच

तपः किंलक्षणं प्रोक्तं को दमश्च प्रकीर्तितः ।
क्षमा च का परा प्रोक्ता का च ह्रीः परिकीर्तिता ॥८७॥

युधिष्ठिर उवाच

तपः स्वधर्मवर्तित्वं मनसो दमनं दमः ।
क्षमा द्वंद्वसहिष्णुत्वं ह्रीरकार्यनिवर्तनम् ॥८८॥

य० प्र०–तप का लक्षण क्या है १। और दम किसे कहते हैं? २। क्षमा क्या है? ३। लज्जा क्या है?॥४॥८७॥

यु० उ०–अपने धर्म में स्थित रहना ही तप है १। मन का विषयों से रोकना ही दम है २। शीत उष्ण आदि द्वंद्वों को सहना ही क्षमा है ३। नहीं करने योग्य कार्य का न करना ही लज्जा है ४॥८८॥

यक्ष उवाच

किं ज्ञानं प्रोच्यते राजन् कः शमश्च प्रकीर्तितः ।
दया च का परा प्रोक्ता किं चार्जवमुदाहृतम् ॥८९॥

युधिष्ठिर उवाच

ज्ञानं तत्त्वार्थसंबोधः शमश्चित्तप्रशान्तता ।
दया सर्वसुखैषित्वमार्जवं समचित्तता ॥९०॥

यक्ष उवाच

कः शत्रुर्दुर्जयः पुंसां कश्च व्याधिरनन्तकः ।
कीदृशश्च स्मृतः साधुरसाधुः कीदृशः स्मृतः ॥९१॥

युधिष्ठिर उवाच

क्रोधः सुदुर्जयः शत्रुर्लोभो व्याधिरनन्तकः ।
सर्वभूतहितः साधुरसाधुर्निर्दयः स्मृतः ॥९२॥

य० प्र०–हे राजन् ! उत्तम ज्ञान क्या है? १। और शम क्या है? २। उत्तम दया क्या है? ३। आर्जव (कोमलता) क्या है? ४॥८९॥

यु० उ०—ज्ञानों में उत्तम ज्ञान तत्त्वज्ञान है १। चित्त की शांति ही शम है २। सबके सुख की इच्छा करना दया है ३। समचित्तता अर्थात् समदर्शीपना ही (आर्जव) कोमलता है ४॥९०॥

य० प्र०—पुरुषों का बड़ा शत्रु कौन है? १। बड़ी व्याधि कौनसी है? २। साधु किसको कहते हैं? ३। असाधु किसको कहते हैं? ४॥९१॥

यु० उ०—पुरुषों का क्रोध ही बड़ा शत्रु है १। लोभ ही बड़ी व्याधि है २। जो संपूर्ण प्राणियों के लिये हितकारी है वही साधु है ३। जो दयारहित है वही असाधु है ४॥९२॥

यक्ष उवाच

को मोहः प्रोच्यते राजन् कश्च मानः प्रकीर्तितः ।
किमालस्यं च विज्ञेयं कश्च शोकः प्रकीर्तितः ॥९३॥

युधिष्ठिर उवाच

मोहो हि धर्ममूढत्वं मानस्त्वात्माभिमानिता ।
धर्मनिष्क्रियतालस्यं शोकस्त्वज्ञानमुच्यते ॥९४॥

य० प्र०—हे राजन्! मोह क्या है? १। मान क्या है? २। आलस्य क्या है? ३। और शोक क्या है? ४॥९३॥

यु० उ०—धर्म को नहीं जानना ही मोह है १। अपने को सबसे श्रेष्ठ जानना ही मान है २। धर्म का आचरण नहीं करना ही आलस्य है ३। और अज्ञान ही शोक है ४॥९४॥

यक्ष उवाच

किं स्थैर्यमृषिभिः प्रोक्तं किं च धैर्यमुदाहृतम् ।
स्नानं च किं परं प्रोक्तं दानं च किमिहोच्यते ॥९५॥

युधिष्ठिर उवाच

स्वधर्मे स्थिरता स्थैर्यं धैर्यमिन्द्रियनिग्रहः ।
स्नानं मनोमलत्यागो दानं वै भूतरक्षणम् ॥९६॥

यक्ष उवाच

कः पण्डितः पुमाञ्ज्ञेयो नास्तिकः कश्च उच्यते ।
को मूर्खः कश्चकामः स्यात्को मत्सर इति स्मृतः॥९७॥

युधिष्ठिर उवाच

धर्मज्ञः पण्डितो ज्ञेयो नास्तिको मूर्ख उच्यते ।
कामः संसारहेतुश्च हृत्तापो मत्सरः स्मृतः ॥९८॥

य० प्र०–ऋषियों की कही हुई स्थिरता क्या है? १। और उनकी कही हुई धीरता कौनसी है? २। स्नानों में उत्तम स्नान कौनसा है? ३। और दानों में उत्तम दान कौनसा कहा है? ४॥९५॥

यु० उ०–अपने धर्म में स्थिरता ही स्थिरता है १। इंद्रियों को रोकना ही धीरता है २। मन के मलों का त्याग करना ही उत्तम स्नान है ३। और प्राणियों की रक्षा करना ही उत्तम दान है ४॥९६॥

य० प्र०–पंडित पुरुष कौन है? १। नास्तिक कौन है? २। मूर्ख कौन है? ३। काम कौन और मत्सर कौन है? ४॥९७॥

यु० उ०–धर्म को जाननेवाला ही पंडित है १। और नास्तिक ही मूर्ख कहा है २। संसार की वासना न मिटना ही काम है ३। और दूसरे की संपत्ति देखकर हृदय में ताप होना ही मत्सर है ४॥९८॥

यक्ष उवाच

कोऽहङ्कार इति प्रोक्तः कश्च दंभः प्रकीर्तितः ।
किं तद्दैवं परं प्रोक्तं किं तत्पैशुन्यमुच्यते ॥९९॥

युधिष्ठिर उवाच

महाज्ञानमहाङ्कारो दंभो धर्मो ध्वजोच्छ्रयः ।
दैवं दानफलं प्रोक्तं पैशुन्यं परदूषणम् ॥१००॥

यक्ष उवाच

धर्मश्चार्थश्च कामश्च परस्परविरोधिनः ।
एषां नित्यविरुद्धानां कथमेकत्र सङ्गम ॥१०१॥

युधिष्ठिर उवाच

यदा धर्मश्च भार्या च परस्परवशानुगौ ।
तदा धर्मार्थकामानां त्रयाणामपि सङ्गमः ॥१०२॥

य० प्र०—अहंकार क्या है? १। और दम्भ क्या है? २। भाग्य क्या कहा है? ३। और पिशुनता (चुगली) कौनसी कही है? ४॥९९॥

यु० उ०—महाअज्ञान ही अहंकार है १। और संसार में पुजाने के लिये ही धर्म करना दंभ है २। पूर्वजन्म में किये हुए दान का फल ही दैव (भाग्य) है ३। और दूसरों के दूषणों का कहना ही चुगली है ४॥१००॥

य० प्र०—हे राजन्! धर्म, अर्थ और काम ये परस्पर विरोधी हैं, इन नित्यविरोधियों का एक जगह संगम कैसे हो सकता है? १॥१०१॥

यु० उ०—जब कि धर्म और स्त्री आपस में वश में हो जाते है १॥१०२॥

यक्ष उवाच

अक्षयो नरकः केन प्राप्यते भरतर्षभ ।
एतन्मे पृच्छतः प्रश्नं तच्छीघ्रं वक्तुमर्हसि ॥१०३॥

युधिष्ठिर उवाच

ब्राह्मणं स्वयमाहूय याचमानमकिंचनम् ।
पश्चान्नास्तीतियो ब्रूयात्सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् ॥१०४॥

य० प्र०—हे भरतश्रेष्ठ! कौनसे कर्म के करने से मनुष्य का अक्षय नरकवास होता है? मेरे पूछे गये इस प्रश्न का शीघ्र ही उत्तर दीजिये?॥१०३॥

यु० उ०—याचना करते हुए अकिंचन ब्राह्मण को स्वयं ही प्रथम देने को बुलावे और बाद में मना कर दे वह अक्षय नरक में जाता है॥१०४॥

वेदेषु धर्मशास्त्रेषु मिथ्या यो वै द्विजातिषु ।
देवेषु पितृधर्मेषु सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् ॥१०५॥
विद्यमाने धने लोभाद्दानभोगविवर्जितः ।
पश्चान्नास्तीतियोब्रूयात्सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् ॥१०६॥

वेद धर्मशास्त्र ब्राह्मण, देवता और पितृधर्म इनमें जो मिथ्याबुद्धि करता है वह अक्षय नरक में जाता है॥१०५॥ धन रहने पर भी जो मनुष्य न तो दान देता है और न स्वयम् भोगता है और 'दान दूंगा' ऐसा कहकर पीछे मना कर देता है वह अक्षय नरक में जाता है॥१०६॥

यक्ष उवाच

राजन्कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन वा ।
ब्राह्मण्यं केन भवति प्रब्रूह्येतत्सुनिश्चितम् ॥१०७॥

य० प्र०—हे राजन्! ब्राह्मणत्व, कुलसे होता है? १। अथवा आचरण से होता है? २। तथा वेद पढ़ने से होता है? ३। अथवा श्रुत से होता है? ४। किससे ब्राह्मणत्व होता है? ५। यह मुझे निश्चित कहिये॥१०७॥

युधिष्ठिर उवाच

शृणु यक्ष कुलं तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम् ।
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः ॥१०८॥
वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं ब्राह्मणेन विशेषतः ।
अक्षीणवृत्तो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ॥१०९॥
पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः ।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान्स पण्डितः॥११०॥
चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः स शूद्रादतिरिच्यते ।
योऽग्निहोत्रपरो दान्तः स ब्राह्मण इति स्मृतः॥१११॥

यु० उ०—हे यक्ष! हे तात! सुनिये, ब्राह्मणत्व में न कुल कारण है, न वेदपाठ, और न श्रुत किन्तु ब्राह्मणत्व में एक स्वधर्माचरण ही कारण है, इसमें सन्देह नहीं॥१०८॥ पुरुष को स्वधर्माचरण की रक्षा करनी चाहिये और ब्राह्मण को विशेष करके ही करनी चाहिये क्योंकि जिसका वृत्त क्षीण नहीं है वह क्षीण नहीं है और जिसका वृत्त क्षीण है वही क्षीण

है॥१०९॥ हे यक्ष! जो ब्राह्मण पढ़ाने वाले हैं। जो पढ़ने वाले हैं और जो शास्त्र के चिंतक हैं वे क्रियारहित होने से सम्पूर्ण व्यसनी और मूर्ख हैं और जो क्रियावान् है वे पण्डित हैं॥११०॥ चारों वेदों का पढ़ने वाला भी ब्राह्मण यदि दुष्ट आचरणवाला है तो वह शूद्र से भी अधिक निकृष्ट है क्योंकि जो अग्निहोत्र करता है और इंद्रियों का दमन करता है वही ब्राह्मण कहा है॥१११॥

यक्ष उवाच

प्रियवचनवादी किं लभते विमृशितकार्यकरः किं लभते ।
बहुमित्रकरः किं लभते धर्मे रतः किं लभते कथय ॥११२॥

य० प्र०—हे राजन्! यह मेरा प्रश्न कहिये कि प्रियवचन बोलने वाले को क्या प्राप्त होता है? १। और विचार करके कार्य करने वाले को क्या प्राप्त होता है? २। बहुत मित्र करने वाले को क्या प्राप्त होता है? ३। और धर्म में तत्पर रहने वाले को क्या प्राप्त होता है? ४॥११२॥

युधिष्ठिर उवाच

प्रियवचनवादी प्रियो भवति विमृशितकार्यकरोऽधिकं जयति ।
बहुमित्रकरः सुखं वसते यश्च धर्मरतः स गतिं लभते ॥११३॥

यु० उ०—प्रियवचन बोलने वाला सम्पूर्ण जनों को प्रिय होता है १। और विचारकर काम करने वाले का अधिक जय होता है २। बहुत मित्र करने वाला सुखपूर्वक रहता है ३। और धर्म में तत्पर मनुष्य उत्तम गति को प्राप्त होता है ४॥११३॥

यक्ष उवाच

को मोदते किमाश्चर्यं कः पन्थाः का च वार्तिका ।
वद मे चतुरःप्रश्नान्मृता जीवन्तु बान्धवाः ॥११४॥

य० प्र०—प्रसन्न कौन रहता है? १। और आश्चर्य क्या है? २। मार्ग कौन है? ३। और वार्ता(वर्तमान) कौन है? ४। हे राजन्! यदि आप मेरे इन प्रश्नों का उत्तर दे देंगे तो आपके चारों भाई जी उठेंगे॥११४॥

युधिष्ठिर उवाच

पञ्चमेऽहनि षष्ठे वा शाकं पचति स्वे गृहे ।
अनृणी चाप्रवासी च स वारिचर मोदते ॥११५॥

यु० उ०—हे वारिचर! जो मनुष्य अपने घर में पांचवें अथवा छठे दिन शाकपात खाता है परन्तु ऋणी नहीं है और प्रवासी अर्थात् परदेशवासी नहीं है वह प्रसन्न रहता है १॥११५॥

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम् ।
शेषाःस्थावरमिच्छंति किमाश्चर्यमतः परम् ॥११६॥

दिन दिन प्राणी धर्मराज के स्थान को जाते हैं अर्थात् मरते हैं और बाकी जीते हुए इनको देखकर भी अपने को स्थिर (अमर) रहने की इच्छा करते हैं तो फिर इससे अधिक और आश्चर्य कौनसा है? अर्थात् कोई नहीं २॥११६॥

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥११७॥

तर्क अप्रतिष्ठ अर्थात् निर्णयशून्य है और श्रुति परस्पर विरुद्ध अर्थवादवाली है और ऋषि भी उनकी व्याख्या करने वाले परस्पर विरुद्ध हैं और धर्म का तत्व गुहा अर्थात् गुप्तभाव में स्थित है, इसलिये अपने बड़े पुरुष जिस धर्ममार्ग से चले आये हैं वही मार्ग है ३॥११७॥

अस्मिन्महामोहमये कटाहे सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन ।
मास-र्तु-दर्वी-परिघट्टनेन भूतानि कालः पचतीति वार्ता ॥११८॥

इस महामोहरुप कड़ाह को सूर्य और अग्निसे रात्रिदिवसरूप ईंधन करके काल प्रभु प्राणियों को इसमें पकाता है और मास ऋतुरूप कड़छी से हिलाता है यही वार्ता है ४॥११८॥

यक्ष उवाच

व्याख्याता मे त्वया प्रश्ना याथातथ्यं परंतप ।
पुरुषं त्विदानीं व्याख्याहि यश्च सर्वधनी नरः ॥११९॥

यक्ष बोला-हे परंतप! (हे युधिष्ठिर) मेरे प्रश्नों के उत्तर आपने ठीक ठीक दे दिये, परन्तु अब उस पुरुष की व्याख्या करो जो सर्वधनी कहाता है॥११९॥

युधिष्ठिर उवाच

दिवं स्पृशति भूमिं च शब्दः पुण्येन कर्मणा ।
यावत्स शब्दो भवति तावत्पुरुष उच्यते ॥१२०॥
तुल्ये प्रियाप्रिये यस्य सुखदुःखे तथैव च ।
अतीतानागते चोभे स वै सर्वधनी नरः ॥१२१॥

युधिष्ठिर बोले-पुण्यकर्म करके जिसकी कीर्त्ति का शब्द जब तक आकाश और भूमि में व्याप्त रहता है तब तक वह पुरुष मानों जीता है और वही सर्वधनी भी कहाता है॥१२०॥ जिसके शत्रु मित्र तुल्य है और सुख दुःख तुल्य हैं और भूत भविष्यत् सब जिसके तुल्य हैं वह मनुष्य सर्वधनी कहा है॥१२१॥

यक्ष उवाच

व्याख्यातः पुरुषो राजन्यश्च सर्वधनी नरः ।
तस्मात्वमेकं भ्रातृणां यमिच्छसि स जीवतु ॥१२२॥

यक्ष बोला-सर्वधनी मनुष्य भी ठीक बता दिया, इसलिये मैं आपसे प्रसन्न होकर कहता हूँ कि अब आप जिस एक भाई के लिये कहिये वही जी उठेगा॥१२२॥

युधिष्ठिर उवाच

श्यामो य एव रक्ताक्षो बृहच्छाल इवोत्थितः ।
व्यूढोरस्को महाबाहुर्नकुलो यक्ष जीवतु ॥१२३॥

युधिष्ठिर बोले-हे यक्ष! यदि प्रसन्न हुए आप ऐसा कहते हो तो, यह श्यामकर्ण, रक्तनेत्रोंवाला, बड़े शालके वृक्ष के समान् ऊंचा, बड़ी छातीवाला और लम्बी भुजाओंवाला मेरा भ्राता नकुल जीवित हो जाये॥१२३॥

यक्ष उवाच

प्रियस्ते भीमसेनोऽयमर्जुनो वः परायणम् ।
स कस्मान्नकुलो राजन्सापत्नं जीवमिच्छसि ॥१२४॥

ऐसे सुन यक्ष बोला–हे राजन्! यह भीमसेन आपका प्रिय है और यह अर्जुन आप सबका रक्षक है, फिर इन दोनों को छोड़कर कैसे सापत्नभ्राता नकुल के ही जीने की इच्छा करते हो॥१२४॥

यस्य नागसहस्रेण दशसंख्येन वै बलम् ।
तुल्यं तं भीममुत्सृज्य नकुलं जीवमिच्छसि ॥१२५॥
तथैनं मनुजाः प्राहुर्भीमसेनं प्रियं तव ।
अथ केनानुभावेन सापत्नं जीवमिच्छसि ॥१२६॥
यस्य बाहुबलं सर्वे पाण्डवाः समुपासते ।
अर्जुनं तमपाहाय नकुलं जीवमिच्छसि ॥१२७॥

अहो, जिस भीमसेन में दस हजार हाथियों का बल है, उस भीमसेन को छोड़कर नकुल के ही जीने की इच्छा कैसे करते हो॥१२५॥ और हे राजन्! मनुष्य भीमसेन को आपका प्यारा भी बताते हैं, फिर ऐसे भीमसेन को छोड़कर किस कारण से सापत्नभ्राता नकुल के ही जीने की इच्छा करते हो॥१२६॥ अहो! आप सभी पांडव जिसके बाहुबल के आश्रित होकर स्थित हैं, ऐसे इस अर्जुन को छोड़कर हे राजन्! नकुल के ही जीने की कैसे इच्छा करते हो॥१२७॥

युधिष्ठिर उवाच

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मं न त्यजामि मानो धर्मो हतोऽवधीत्॥१२८॥
आनृशंस्यं परो धर्मः परमार्थाच्च मे मतम् ।
आनृशंस्यं चिकीर्षामि नकुलो यक्ष जीवतु ॥१२९॥
धर्मशीलः सदा राजा इति मां मानवा विदुः ।
स्वधर्मान्न चलिष्यामि नकुलो यक्ष जीवतु ॥१३०॥
कुन्ती चैव तु माद्री च द्वे भार्ये तु पितुर्मम ।
उभे सपुत्रे स्यातां वै इति मे धीयतेमतिः ॥१३१॥

युधिष्ठिर बोले–हे यक्ष! धर्म ही हत किया हुआ हनन करता है और धर्म ही रक्षा किया हुआ रक्षा करता है, इसलिये धर्म को मैं नहीं त्यागता हूँ जिससे हत हुआ धर्म मेरा हनन न करे॥१२८॥ हे यक्ष! परमार्थ से मेरा यह मत है कि समदर्शिता व दया परम धर्म है इसलिये

मैं अविषमता की इच्छा करता हूँ कि नकुल ही जीवित हो जाओ॥१२९॥ हे यक्ष! मुझको "राजा (युधिष्ठिर) धर्मशील हैं" ऐसे सम्पूर्ण काल में कहते हैं, इसलिये अपने धर्म से मैं चलायमान नहीं होकर यही चाहता हूँ कि नकुल जीवित हो जाओ॥१३०॥ हे यक्ष! मैंने ऐसा विचार किया है कि मेरे पिता की कुन्ती और माद्री ये जो दो स्त्रियां है वे नकुल के जीने से दोनों समान पुत्रवती हो जावें॥१३१॥

यथा कुन्ती यथा माद्री विशेषो नास्ति मे तयोः।
मातृभ्यां सममिच्छामि नकुलो यक्ष जीवतु ॥१३२॥

हे यक्ष! मुझको जैसी कुन्ती है, वैसी ही माद्री है, मेरे दोनों में भेदभाव नहीं है, इसलिये दोनों माताओं को सम रखने की इच्छा से मैं यह कहता हूँ कि नकुल जीवित हो जाओ॥१३२॥

यक्ष उवाच

यस्य तेऽर्थाच्च कामाच्च आनृशंस्यं परं मतम्।
तस्मात्ते भ्रातरः सर्वे जीवन्तु भरतर्षभ ॥१३३॥

इति श्रीमहाभारते आरण्यके पर्वणि आरणेयपर्वणि यक्षप्रश्ने
त्रयोदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥३१३॥ (३)

यक्ष बोला-हे भरतर्षभ! (युधिष्ठिर) आपके अर्थ और काम से अविषमता परम संमत है, इसलिये आपके सभी भाई जीवित हो जाएं॥१३३॥

इति श्रीमहाभारते आरण्यके पर्वणि आरणेयपर्वणि यक्षप्रश्ने हिन्दीटीकायां त्रयोदशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥३१३॥ (३)

*****

चौथा अध्याय

वैशंपायन उवाच

ततस्ते यक्षवचनादुदतिष्ठन्त पाण्डवाः।
क्षुत्पिपासे च सर्वेषां क्षणेन व्यपगच्छताम् ॥१॥

अब इतनी कथा कहकर फिर वैशंपायन ऋषि राजा जनमेजय से बोले-हे जनमेजय! इसके पश्चात् यक्ष के वचन से वे संपूर्ण पांडव उठकर खड़े हो गये और क्षणमात्र में सभी की भूख प्यास दूर हो गई॥१॥

युधिष्ठिर उवाच

सरस्येकेन पादेन तिष्ठन्तमपराजितम् ।
पृच्छामि को भवान्देवो न मे यक्षोमतो भवान्॥२॥
वसूनां वा भवानेको रुद्राणामथवा भवान् ।
अथवा मरुतां श्रेष्ठो वज्री वा त्रिदशेश्वरः ॥३॥
मम हि भ्रातर इमे सहस्रशतयोधिनः ।
तं योधं न प्रपश्यामि येन सर्वे निपातिताः ॥४॥
सुखं प्रतिप्रबुद्धानामिन्द्रियाण्युपलक्षये ।
स भवान्सुहृदोऽस्माकमथवा नः पिता भवान्॥५॥

राजा युधिष्ठिर बोले-इस सरोवर में एक पांव से स्थित होते हुए आप कौनसे अजेय देवता हैं, मैं आपसे यह पूछता हूँ। मेरा यह मत है कि आप यक्ष नहीं हो॥२॥ आठ वसुओं में कोई एक वसु हो अथवा ग्यारह रुद्रो में से कोई एक रुद्र हो। अथवा उनचास वायुओं में से कोई एक वायु हो अथवा देवताओंके राजा इंद्रदेव हो॥३॥ क्योंकि ये मेरे भ्राता एक एक सैंकड़ों और हजारों के साथ युद्ध करनेवाले हैं और ऐसा एक योद्धा भी मैं किसी को नहीं देखता हूँ कि जो इनको युद्ध में गिरा दे, इसलिये आप कोई उत्तम देव हैं, कि जिन्होंने मेरे सभी भाई गिरा दिये॥४॥ सुखपूर्वक सोकर उठे हुओं की तरह इनकी इंद्रियों को मैं देखता हूँ, इसलिये यह भी जानता हूँ कि आप हमारे कोई सुहृद हो अथवा पिता (धर्म) ही हो॥५॥

यक्ष उवाच

अहं ते जनकस्तात धर्मो मृदुपराक्रम ।
त्वां दिदृक्षुरनुप्राप्तो विद्धि मां भरतर्षभ ॥६॥
यशः सत्यं दमः शौचमार्जवं ह्रीरचापलम् ।
दानं तपो ब्रह्मचर्यमित्येतास्तनवो मम ॥७॥

अहिंसा समता शांतिस्तपः शौचममत्सरः ।
द्वाराण्येतानि मे विद्धि प्रियो ह्यसि सदा मम ॥८॥
दिष्ट्या पञ्चसु रक्तोऽसि दिष्ट्या ते षट्पदी जिता ।
द्वे पूर्वे मध्यमे द्वे च द्वे चान्ते सांपरायिके ॥९॥
धर्मोऽहमिति भद्रं ते जिज्ञासुस्त्वामिहागतः ।
आनृशंस्येन तुष्टोऽस्मि वरं दास्यामि तेऽनघ ॥१०॥

ऐसे सुन यक्ष बोला-हे मृदुपराक्रम! हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ पुत्र! (युधिष्ठिर!) मैं तुम्हारा पिता धर्म हूँ और तुम्हें देखने के लिये आया हूँ ऐसा जानो॥६॥ और हे पुत्र! यश, सत्य, इंद्रियों का जीतना, शौच (शुद्धि), कोमलता, लज्जा, अचपलता, दान, तप और ब्रह्मचर्य ये दश मेरे शरीर हैं॥७॥ हे राजन्! जिससे तुम मुझको सदा प्रिय हो, इसलिये मैं तुमको धर्म के द्वारा कहता हूँ अहिंसा, समता, शांति, तप, शौच और अमत्सरता, इन्हीं के द्वारा मुझ धर्म की प्राप्ति होती है॥८॥ हे राजन्! आप पांचों में शम, दम, जितेंद्रियता, शीतोष्ण की सहनशीलता, उपराम,और समाधिस्थितता में तत्परता है,यह बहुत अच्छा है। और आदि अवस्था की क्षुधा और तृषा मध्य अवस्था का शोक और मोह अन्त अवस्था की वृद्धावस्था और मृत्यु यह षट्पदी आपने जीत ली है यह भी बहुत अच्छा है॥९॥ हे अनघ! (युधिष्ठिर!) तुम्हारा कल्याण हो। मैं धर्म हूँ और तुझ धर्मिष्ठ की परीक्षा लेने को आया हूँ इसलिये तुम्हारी समता और दयालुता से प्रसन्न हुआ मैं कहता हूँ कि तुझको मैं वर दूँगा॥१०॥

वरं वृणीष्व राजेन्द्र दाता ह्यस्मि तवानघ ।
ये हि मे पुरुषा भक्ता न तेषामस्ति दुर्गतिः ॥११॥

युधिष्ठिर उवाच

अरणीसहितं यस्य मृगो ह्यादाय गच्छति ।
तस्याग्नयो न लुप्येरन्प्रथमोस्तु वरो मम ॥१२॥

यक्ष उवाच

अरणीसहितं ह्यस्य ब्राह्मणस्य हृतं मया ।
मृगवेषेण कौन्तेय जिज्ञासार्थं तव प्रभो ॥१३॥

वैशंपायन उवाच

ददानीत्येव भगवानुत्तरं प्रत्यपद्यत ।
अन्यं वरय भद्रं ते वरं त्वममरोपम ॥१४॥

हे राजेन्द्र! तुम वर मांगो मैं दूंगा हे अनघ! जो पुरुष मेरे भक्त हैं उनकी दुर्गति कभी नहीं होती है॥११॥ ऐसे सुन युधिष्ठिर बोले-जिस ब्राह्मण की, अरणीसहित अग्निको लेकर मृग चला गया उसका अग्निहोत्र लुप्त न हो प्रथम वर तो मेरा यही है॥१२॥ यक्ष बोला-हे कौंतेय! हे प्रभो! (राजन् युधिष्ठिर!) तुम्हारी परीक्षा के लिये मृगवेष धारण करके इस ब्राह्मण का अरणी सहित अग्नि मैंने ही हरण की थी॥१३॥ वैशम्पायनजी कहते हैं कि हे जनमेजय! फिर भगवान् धर्म ने कहा कि हे देवसदृश! (राजन् युधिष्ठिर) तुम्हारा कल्याण हो ये वर तो मैंने दिये किन्तु अन्य वर कोई मांगो॥१४॥

युधिष्ठिर उवाच

वर्षाणि द्वादशाऽरण्ये त्रयोदशमुपस्थितम् ।
तत्र नो नाभिजानीयुर्वसतो मनुजाः क्वचित् ॥१५॥

वैशंपायन उवाच

ददानीत्येव भगवानुत्तरं प्रत्यपद्यत ।
भूयश्चाश्वासयामास कौंतेयं सत्यविक्रमम् ॥१६॥
यद्यपि स्वेन रूपेण चरिष्येथ महीमिमाम् ।
न वो विज्ञास्यते कश्चित्त्रिषु लोकेषु भारत ॥१७॥

ऐसे सुन राजा युधिष्ठिर बोले—हे भगवन्! हमको वन में बसते हुए बारह (१२) वर्ष व्यतीत हो चुके अब अज्ञात बसने का तेरहवां वर्ष प्राप्त हुआ है इसलिये यह वर दीजिये कि हम चाहें जहां बसैं, मनुष्य हमको जाने नहीं॥१५॥ वैशम्पायनजी कहते हैं कि हे राजन्! जनमेजय! राजा युधिष्ठिर के ऐसे वचन सुनकर भगवान् धर्म कहने लगे 'मैं यह भी वर तुम्हें देता हूं' ऐसा कहकर फिर सत्यविक्रम कुन्ती के पुत्र राजा युधिष्ठिर को अनेक प्रकार से आश्वासन करते हुये बोले—हे भारत युधिष्ठिर! यदि तुम अपने इन्हीं रूपों से त्रिलोकी में पृथ्वी पर चाहों जहां विचरो, तुम्हें कोई नहीं जान सकेगा॥१७॥

वर्षं त्रयोदशमिदं मत्प्रसादात्कुरूद्वहाः ।
विराटनगरे गूढा अविज्ञाताश्चरिष्यथ ॥१८॥
यद्वः सङ्कल्पितं रूपं मनसा यस्य यादृशम् ।
तादृशं तादृशं सर्वे छन्दतो धारयिष्यथ ॥१९॥
अरणीसहितं चेदं ब्राह्मणाय प्रयच्छत ।
जिज्ञासार्थं मया ह्येतदाहृतं मृगरूपिणा ॥२०॥
प्रवृणीष्वापरं सौम्य वरमिष्टं ददामि ते ।
न तृप्यामि नरश्रेष्ठ प्रयच्छन्वै वरांस्तथा ॥२१॥
तृतीयं गृह्यतां पुत्र वरमप्रतिमं महत् ।
त्वं हि मत्प्रभवो राजन् विदुरश्च ममांशजः ॥२२॥

तथाऽपि हे कुरुद्वह! इस तेरहवें वर्ष में तुम गुप्त हुए विराट्नगर में बसो मेरे प्रसाद से वहां तुमको कोई नहीं जान सकेगा॥१८॥ और तुमको जैसा जैसा रूप वांछित हो वैसा वैसा धारण करते हुए तुम सम्पूर्ण यथेच्छ विचरोगे॥१९॥ अरणीसहित यह काष्ठ ब्राह्मण को दे दो। मैं मृगरूप धारण करके तुम्हारी परीक्षा के लिये लाया था॥२०॥ हे नरश्रेष्ठ! तुमको वर देता हुआ मैं तृप्त नहीं होता हूँ इसलिये हे सौम्य! तुम वांछित और मांगो॥२१॥ हे पुत्र! और तीसरा कोई अनुपम और बड़ा वर मुझसे मांगो, क्योंकि हे राजन्! तुम मुझसे उत्पन्न हुए हो और विदुर भी मेरे अंश से उत्पन्न हुए हैं॥२२॥

युधिष्ठिर उवाच

देवदेवो मया दृष्टो भवान्साक्षात्सनातनः ।
यं ददासि वरं तुष्टस्तं ग्रहीष्याम्यहं पितः ॥२३॥
जयेयं लोभमोहौ च क्रोधं चाहं सदा विभो ।
दाने तपसि सत्ये च मनो मे सततं भवेत् ॥२४॥

धर्म उवाच

उपपन्नो गुणैरेतैः स्वभावेनासि पाण्डव ।
भवान्धर्मः पुनश्चैव यथोक्तं ते भविष्यति ॥२५॥

ऐसे सुन राजा युधिष्ठिर बोले—कि हे भगवन्! आज मेरे धन्य भाग्य है जो कि देवदेव और सनातन आपके दर्शन हुए, इसलिये हे पितः! आप

प्रसन्न हुए जो वर देंगे वही मैं ग्रहण करूंगा।।२३।। तथापि हे विभो! मैं तीसरा वर यही मांगता हूँ कि लोभ मोह और क्रोध इनको सम्पूर्ण काल में जीतूँ और दान, तप तथा सत्य इनमें मेरा मन निरंतर बना रहे।।२४।। यह सुन धर्म बोले—हे पांडव! इन गुणों से तो तुम स्वभाव से ही युक्त हो तथापि मैं भी यह वर तुम्हें देता हूँ कि ये गुण तुममें निरन्तर वास करेंगे।।२५।।

वैशंपायन उवाच

इत्युक्त्वांतर्दधे धर्मो भगवाँल्लोकभावनः ।
समेताः पाण्डवाश्चैव सुखसुप्ता मनस्विनः ।।२६।।
उपेत्य चाश्रमं वीराः सर्व एव गतक्लमाः ।
आरणेयं ददुस्तस्मै ब्राह्मणाय तपस्विने ।।२७।।

इतनी कथा कहकर फिर वैशंपायन ऋषि राजा जनमेयजयसे बोले—हे राजन्! लोकप्रतिपालक भगवान् धर्मराजा, युधिष्ठिर को ऐसे वर देकर अंतर्धान हो गये और मनस्वी शूरवीर सभी पांडव सुखपूर्वक सोते हुओं के समान उठकर इकट्ठे हो अपने आश्रम को आये और श्रमरहित हुए उस तपस्वी ब्राह्मण को उसकी वह अरणी दी।।२६-२७।।

इदं समुत्थानसमागतं महत् पितुश्च पुत्रस्य च कीर्तिवर्धनम् ।
पठेन्नरः स्याद्विजितेन्द्रियो वशी सपुत्रपौत्रः शतवर्षभाग्भवेत् ।।२८।।
न चाप्यधर्मे न सुहृद्विभेदने परस्वहारे परदारमर्शने ।
कदर्यभावे न रमेन्मनः सदा नृणां सदाख्यानमिदं विजानताम् ।।२९।।

इति श्रीमहाभारते आरण्यके पर्वणि आरणेयपर्वणि नकुलादिजीवनादिवरप्राप्तौ चतुर्दशाऽधिकत्रिशततमोऽध्यायः ।।३१४।।(४)

यह नकुलादिकों को मूर्च्छा होकर उठना और धर्म युधिष्ठिर का प्रश्नोत्तर करना रूप जो आख्यान है, वह मनुष्यों के पठन श्रवण से पिता-पुत्रों की कीर्ति को बढ़ानेवाला है और जो मनुष्य इसका नित्य पाठ करता है वह जितेन्द्रिय स्वाधीन और पुत्र पौत्रों से युक्त हुआ सौ वर्ष पर्यंत सुखको भोगता है।।२८।। जो मनुष्य इस श्रेष्ठ आख्यान का

सदा पाठ करते हैं, उनका मन दूसरों का धन हरना, दूसरों कि स्त्रियों से रमण करना, कंजूसपना इनमें कभी रमण नहीं करता है अर्थात् कभी नहीं जाता है।।२९।।

इति श्रीमहाभारते आरण्यके पर्वणि आरणेयपर्वणि हिन्दीटीकायां नकुलादि जीवनादिवरप्राप्तौ चतुर्दशाऽधिकत्रिशततमोऽध्यायः ।।३१४।।(४)

दोहा—यक्ष धर्म प्रश्नोत्तरी, करी सु भाषामाहिं ।
नन्दलाल कहे चूक जो, कहु शोधैं बुध ताहिं ।।

हमारे प्रकाशनों की अधिक जानकारी व खरीद के लिये हमारे निजी स्थान :

खेमराज श्रीकृष्णदास
अध्यक्ष : श्रीवेंकटेश्वर प्रेस,
९१/१०९, खेमराज श्रीकृष्णदास मार्ग,
७ वी खेतवाडी बँक रोड कार्नर,
मुंबई - ४०० ००४.
दूरभाष/फैक्स-०२२-२३८५७४५६.

खेमराज श्रीकृष्णदास
६६, हडपसर इण्डस्ट्रियल इस्टेट,
पुणे - ४११ ०१३.
दूरभाष-०२०-२६८७१०२५,
फैक्स -०२०-२६८७४१०७.

गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास,
लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस व बुक डिपो
श्रीलक्ष्मीवेंकटेश्वर प्रेस बिल्डींग,
जूना छापाखाना गली, अहिल्याबाई चौक,
कल्याण, जि. ठाणे, महाराष्ट्र - ४२१ ३०१
दूरभाष/फैक्स- ०२५१-२२०९०६१

खेमराज श्रीकृष्णदास
चौक, वाराणसी (उ.प्र.) २२१ ००१.
दूरभाष - ०५४२-२४२००७८

KHEMRAJ SHRIKRISHNADASS